[सर्वोदय साहित्यमाला : सतासीवाँ ग्रंथ]

गांधीवाद : समाजवाद

[एक तुलनात्मक अध्ययन]

सम्पादक

काका कालेलकर

सस्ता साहित्य मण्डल

दिल्ली : लखनऊ

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

संस्करण

मार्च १९३९ २०००

मूल्य
बारह आना

मुद्रक,
एस. एन. भारती,
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
नई दिल्ली।

दो शब्द

इस पुस्तक में दो प्रकार के लेखो का सग्रह किया गया है। कुछ तो ऐसे है जो गाधीजी के विचारो का निदर्शन कराते है और कुछ ऐसे है जो समाजवादी सिद्धान्तो का समर्थन करते है। आज हिन्दुस्तान में इन दोनो विचार-धाराओ का संघर्ष चल रहा है और जनता दोनो का परिचय प्राप्त करना चाहती है। गाधीजी के सिद्धान्त बहुत-कुछ क्रियात्मक रूप से सामने आये हैं, क्योकि गाधीजी इस बात को मानते है कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने जीवन को सुधार लेने से ही समाज सुधर जाता है और उसमें प्रचलित बुराइयाँ दूर हो सकती है। अगर व्यक्ति का सुधार होगया तो साथ-ही-साथ और अनिवार्य रूप से समष्टि का सुधार होजाता है। इसलिए उनके सिद्धान्तो को क्रियात्मक रूप देना प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार में है और जिस अश में ऐसे लोग हिन्दुस्तान में मिले है जो उनको अपने जीवन में परिवर्तित कर सके है उसी अश में उनका क्रियात्मक रूप देखा जा सकता है। समाजवाद के सिद्धान्तो को परिवर्तित करने के लिए सामूहिक शक्ति की आवश्यकता है। राजसत्ता के बिना उनका क्रियात्मक परिवर्तन एक प्रकार से असम्भव है। इसलिए समाजवाद का रूप भारतवर्ष में केवल लेखो और भाषणो में ही पाया जा सकता है।

इस पुस्तक में दोनो प्रकार के लेखो को एकत्र करके यह प्रयत्न किया गया है कि पाठक के सामने दोनो चित्र आजायँ। मै समझता हूँ कि दोनो पक्षो के सिद्धान्तो के समझने के लिए उनके समर्थको के ही लेख अधिक उपयोगी हो सकते है। इसलिए पाठको को चाहिए कि अगर वे गाधीमत को समझना चाहते है तो श्री किशोरलाल मशरूवाला, श्री हरिभाऊ

उपाध्याय, आचार्य कृपालानी और डा० पट्टाभिसीतारामैया के लेखों में ही उनकी खोज करे। और उसी प्रकार समाजवाद के सिद्धान्तों को श्री सम्पूर्णानन्द, श्री जयप्रकाश नारायण, श्री एम० एन० राय प्रभृति के लेखो से ही ढूंढ निकालें। दोनो विषय गूढ हैं। गांधीजी ने अपने विचारो को पुस्तक-रूप में कहीं इकट्ठा करके प्रकाशित नहीं किया है। मगर उनके लेख और भाषण, जो समय-समय पर जनता के सामने आते गये हैं, इतने अधिक हुए है कि वे कई हजार पृष्ठो को भर सकते हैं। समाजवाद पर तो इस देश में और विदेशो में अनगिनत पुस्तकें लिखी जा चुकी है। इन सबका साराश मात्र भी विशेषकर जब उनमें मानवजीवन के सभी पहलुओ पर रोशनी डालने का प्रयत्न किया गया है, इस छोटी-सी पुस्तक में समाविष्ट करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है; तो भी जो मौलिक बातें इस पुस्तक में आगई है वे दोनो विचार-शैलियो के भेद और सामञ्जस्य का अच्छा परिचय दिलाती हैं। इसमें कई लेख विवादात्मक शैली पर ही लिखे गये हैं और इसलिए उनमें उतनी सैद्धान्तिक गहराई नहीं है तो भी आज की परिस्थिति में उनका उपयोग है और वे एक न्यूनता दूर करते हैं। आशा है, पाठक इनसे यथोचित लाभ उठायेंगे।

हरिजन बस्ती, दिल्ली
१-३-३९

राजेन्द्रप्रसाद

विषय-सूची

गांधीवाद : समाजवाद

: १ :

गांधीवाद : समाजवाद

[श्री किशोरलाल घ० मशरूवाला]

कई मित्रो ने वार-वार मुझसे आग्रह किया है कि मै इस विषय की विस्तारपूर्वक चर्चा करू। किंतु स्वय मुझे इस चर्चा को चलाने मे बहुत दिलचस्पी नही थी, यही नही, बल्कि बहुधा मैने इसे शान्त करने का प्रयत्न किया है। कारण, शास्त्रार्थ की चर्चा में हम लोगो की इतनी ज्यादा दिलचस्पी बढ गई है कि एक तरह इसे हम अपने पीछे लगा हुआ एक व्यसन या रोग भी कह सकते है। वाद-विवाद के नशे में प्राय हमें इसका खयाल ही नही रहता, कि इन विवादो का व्यावहारिक परिणाम क्या हो सकता है। और चर्चा के ये विषय ही ऐसे है, कि कयामत के दिन तक इनकी चर्चा करते रहे, तब भी शायद इनके विषय मे सबका एक मत नही होगा।

दूसरे, एक हद तक इन चर्चाओ की असल बुनियाद ही अभी अनिश्चित है। इसीसे ये चर्चायें अक्सर बेमुद्दा और बेबुनियाद-सी बन जाती है। उदाहरणार्थ, यदि हम 'गाधीवाद' का विचार करें, तो गाधीजी इसके बारे में स्वय इस प्रकार कहते है —

"'गाधीवाद' नाम की कोई वस्तु है ही नही; और न मै अपने पीछे कोई सम्प्रदाय छोड जाना चाहता हूँ। मेरा यह दावा भी नही है कि मैने किसी नये तत्त्व या सिद्धान्त का आविष्कार किया है। मैने तो सिर्फ जो शाश्वत सत्य है, उनको अपने नित्य के जीवन और प्रतिदिन के प्रश्नो पर अपने ढग से उतारने का प्रयासमात्र किया है। .. .. जो राय मैंने कायम की है,

और जिन निर्णयो पर मैं पहुँचा हूँ, वे भी अन्तिम नही है। हो सकता है, मैं कल ही उन्हे बदल दूँ। मुझे दुनिया को कोई नई चीज़ नही सिखानी है। सत्य और अहिंसा अनादि काल से चले आये है। मैंने तो जहाँतक मैं कर सका, इन दोनो के अपने जीवन में प्रयोगभर किये है। ऐसा करते हुए कई बार मैंने ग़लती भी की है, और उन ग़लतियो से मैंने सीखा भी है। मतलब जीवन और उसके प्रश्नो द्वारा मुझे सत्य और अहिंसा के आचरणगत प्रयोग करने का अवसर मिल गया है। स्वभाव मे मैं सत्यवादी तो था, किन्तु अहिंसक न था.. .. .. सत्य की उपासना करते-करते ही मुझे अहिंसा भी मिली है।

"ऊपर जो कुछ मैंने कहा है, उसमें मेरा सारा तत्त्वज्ञान, यदि मेरे विचारो को इतना बडा नाम दिया जा सकता हो तो, समा जाता है। आप उसे 'गांधीवाद' न कहिए; क्योंकि उसमें 'वाद' जैसी कोई बात नही है।"[१]

जिनके नाम से 'वाद' चलता है, वह स्वय यदि अपनी मनोवृत्ति को इस प्रकार उपस्थित करते है तो जो लोग उनकी या उनके नाम की छाया के नीचे रहकर सेवा करने का प्रयत्न कर रहे है, उनका एक दूसरे 'वाद' के प्रचारको के साथ विवाद में उतरना कितना अनुपयुक्त होगा और उसकी नींव कितनी कच्ची होगी।

अच्छा। अब यदि समाजवाद का विचार करते है, तो उसके भी सिद्धान्तो ने अभी कोई निश्चित और सर्वमान्य स्वरूप धारण नही किया है। उसका दावा है कि वह एक तत्त्वदर्शन

१. हरिजनबन्धु, २९-३-१९३६

है; किन्तु तत्त्वदर्शन होते हुए भी अभी वह बाल्यावस्था मे ही है। लेकिन चूंकि उसका दावा तत्त्वदर्शन का है, इसलिए मानव-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली सभी प्रवृत्तियो—धार्मिक, नैतिक, राजनैतिक,सामाजिक,आर्थिक—पर विचार करने का उसमे प्रयत्न किया गया है, और पण्डित जवाहरलाल नेहरू के कथनानुसार—

"जीवन और उसके प्रश्नो के सम्बन्ध में समाजवाद का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। अत वह कोरे तर्क से भिन्न एक निराली वस्तु है। इस प्रकार आनुवशिकता के, लालन-पालन के, और भूतकाल तथा वर्तमान काल की परिस्थिति के अदृश्य प्रभाव से जिस मनोवृत्ति का निर्माण होता है, वह भी विशिष्ट प्रकार की होती है।"[१]

चूकि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, समाजवाद अभी अपनी बाल्यावस्था में है, इसलिए स्वभावतः उसमें भिन्न-भिन्न समाजवादियो के बीच काफी मतभेद है। यूरोप में तो समाजवाद के अनेक पन्थ बन गये है। और हिन्दुस्तान मे भी दो-तीन पन्थ तो है ही। यह भी हो सकता है कि एक ही पन्थ के समाजवादियो में भी छोटे-बडे मतभेद हो। अत संभव है कि कोई आदमी समाजवाद के किसी अग का समर्थन या खण्डन करने चले और उसका विरोधी सामने से यह कहे कि उसकी दृष्टि में वह अग तात्त्विक नही है, अथवा उसका कोई महत्त्व नही है, या उसके विषय मे उसका कोई मतभेद नही है। उदाहरण के लिए पण्डित जवाहरलालजी जैसे प्रसिद्ध समाजवादी को ही लीजिए। ता० ७-१०-१९३६ के 'बोम्बे क्रॉनिकल' मे कुमारी प्रेमाबहन कण्टक

१. मेरी कहानी से

के नाम उनका एक पत्र छपा है। इस पत्र में वह लिखते हैं—

"—विवाह का या स्त्री-पुरुष-विषयक प्रश्नो का स्वय-सेवक या समाजवादी बनने के साथ क्या सबध है? अपने व्यापक अर्थ में समाजवाद जीवन से सबन्ध रखनेवाला एक तत्त्वदर्शन है और इसलिए जीवनसबन्धी सब बातो में उसका समावेश हो सकता है। किन्तु साधारणत समाजवाद का अर्थ है, आर्थिक व्यवस्थासबन्धी एक विशिष्ट सिद्धान्त। जब मैं समाजवाद की चर्चा करता हूँ, तो मेरे सामने यह आर्थिक सिद्धान्त ही होता है। और इसलिए समाजवाद के सिलसिले में धर्म, विवाह, और नीति-विषयक जो चर्चा की जाती है, वह बिलकुल बेमतलब है।"

सम्भव है कि दूसरे समाजवादियों की ठीक यही राय न भी हो। मतलब यह है कि इस परिस्थिति में 'गाधीवाद' और समाजवाद के नाम पर, जो कि दोनो अभी पूरी तरह समझे नहीं गये है, इस प्रकार की जो चर्चायें चलाई जायेंगी, उनसे शायद ही विचारो का कोई स्पष्टीकरण हो सकेगा। हाँ इनके कारण दो दल तो जरूर बन जायेंगे, लेकिन यह जरूरी नही कि इन दलो के समर्थको के विचारो में कोई स्पष्टता हो। सिर्फ यह हो सकता है कि किसी शब्द या सूत्र के विषय में उनकी रुचि या अरुचि स्थिर हो जाय, और उसके आधार पर उन्हे अपने स्थानीय क्षेत्रो में अन्दर-अन्दर लडते रहने की प्रेरणा मिला करे। साथ ही, यदि दो में से एक भी पक्ष के सामने अपना कोई निश्चित और तात्कालिक कार्यक्रम न हो और वे उसपर अमल करने को कटिबद्ध न हो, तो इस तरह की चर्चाओ से, न चर्चा करनेवालो को न जनता को ही उनसे कोई लाभ होगा, मगर, जो इन

दोनो पक्षो को कुचल देना चाहते है, ये उन्हींके हाथ के अनुकूल साधन बन जायें। हमारी इन चर्चाओ के परिणाम-स्वरूप हमारे ये विपक्षी दूरदर्शिता से काम लेकर पहले ही होशियार हो जायें, और अपने सगठन को मजबूत बना ले। क्योकि उनके सामने जनता की नही, अपने ही हित की दृष्टि प्रधान होती है, और उनकी सख्या कम और उस अनुपात में साधन-सामग्री अटूट होती है, अत' अपने दल को दृढ बना लेना उनके लिए अपेक्षाकृत सरल होता है। इसके सिवा हुकूमत भी उनकी पीठ पर होती है। अतएव नतीजा यही निकल सकता है कि लडनेवाले दो पक्षो मे से पहले एक का और फिर दूसरे का दमन शुरू हो जाय। इधर अनजाने ही क्यो न हो, किन्तु जो लोग जोश में आकर बारबार ऐसी शास्त्रीय चर्चाओ में भाग लेते है, हो सकता है कि इन चर्चाओ के कारण उनके दिल एक दूसरे से खिच जायें और उनमें एक दूसरे के प्रति वैमनस्य पैदा हो जाय। इस कारण जब एक का दमन होता हो, तो दूसरा पक्ष जान बूझकर नही, तो अनजाने उस दमन का साधन बन जाय, अथवा साधन न बनने पर भी तटस्थ दर्शक बनकर खडा रहे। इन दोनो अवस्थाओ से देशहित की तो हानि ही हो सकती है।

इसका यह आशय नही कि देश के नानाविध प्रश्नो के बारे में हमारे विचारो का अधिक-से-अधिक स्पष्ट होना इष्ट नही है। असलियत यह है कि हमारे देश की जो अनेक समस्यायें है, उनमें कुछ ऐसी है, जिनके विषय में तुरन्त ही हमारे विचार स्पष्ट और हमारी निष्ठा दृढ हो जानी चाहिए; कुछ ऐसी समस्यायें

भी है, जिनपर इच्छा होते हुए भी, आज की स्थिति में, साधारणत बुद्धिमान् गिने जानेवाले लोग, भी, परिश्रमपूर्वक विचार करने का प्रयत्न करके भी, किसी स्पष्ट विचार तक नहीं पहुँच सकते हैं, फिर उसके प्रति दृढनिष्ठ बनने की तो बात ही क्या ? कारण यह है कि जीवन के व्यवहारप्रधान प्रश्नो पर स्पष्ट विचार के लिए जनसाधारण के सामने कुछ बातें बहुत ही स्थूल रूप मे प्रकट होनी चाहिएँ। जबतक इस प्रकार का स्थूलदर्शन उन्हे नही होता तबतक उस विषय के विचार उनकी बुद्धि में प्रवेश ही नही कर पाते। और यदि तर्क से वे कुछ समझ भी गये, तो उसके कारण उनमें निष्ठा की वह दृढ़ता नही पैदा होती, जो एक शक्ति बन सकें। अतएव ऐसे प्रश्न वाद-विवाद द्वारा समझाये और स्पष्ट नही किये जा सकते। इन्हे समझने के लिए इनका अधिक परिपक्व होना आवश्यक है।

इस दृष्टि से यदि हम देश-विषयक समस्याओ के तत्काल और अनिवार्य, तथा दूरगत, ऐसे दो भेद करदे तो, मेरे विचार में, हमारे देश को स्वतत्र करने के लिए नीचे लिखी बातें सर्वप्रथम और तात्कालिक महत्त्व की ठहरती हैं; और यह जरूरी है कि इनके सम्बन्ध में हमारे विचारो मे किसी भी प्रकार की अस्पष्टता, संदिग्धता या कच्चापन न रहे। क्योकि इसके अभाव में विचारो की सारी स्पष्टता और तर्कशुद्धता उन शून्यो की तरह है, जिनके पहले कोई अक नही रहता। वे बातें इस प्रकार है —

१ जबतक देश की सेवा के लिए तन, मन और धन अर्पण करके अपना जीवन क़ुर्बान करने की तैयारीवाले स्त्री-

पुरुष हजारो की सख्या में उत्पन्न न होगे, तबतक कुछ भी सिद्ध होनेवाला नही।

२. ऐसे लोगो में भी यदि चरित्र की दृढता और ध्येय की निष्ठा न हुई, तो कोई बल या फल उत्पन्न होनेवाला नही।

३. साधारण आत्मसुखपरायण तरुणो में इन्द्रियो के भोगो और जीवन के आनन्द के प्रति जो रस रहता है, उन रसो से जिन्हे अरुचि नही है, और उन्हे जीतने के लिए जिनका आत्म-सयम तथा इन्द्रिय-निग्रह के साथ आग्रहपूर्ण प्रयत्न नही है, उन स्त्री-पुरुषो में चारित्र्य की दृढता या ध्येय की निष्ठा नही आ सकती, यदि आज आई हुई प्रतीत होती हो, तो भी वे ध्येय-प्राप्तितक टिकनेवाली नही होती।

४ हमें यह तो स्पष्ट ही समझ लेना होगा, कि स्वराज मिलने से पहले, अर्थात् आज, जितने लोग देश-सेवा के विविध क्षेत्रो मे है, उनमे प्रतिवर्ष अधिकाधिक सख्या मे आजीवन सेवको और सेविकाओ की वृद्धि होती रहनी चाहिए। और इनका वडा भाग उन लोगो में से आना होगा, जो सम्पन्न या गरीब मध्यम श्रेणी के है। इन लोगो को सासारिक दृष्टि से अधिक सादगी, गरीबी और कठिनाईवाला और शारीरिक दृष्टि से श्रमयुक्त जीवन बिताना होगा। अतएव यदि हमारे युवको और युवतियो के जीवन और चरित्र का निर्माण इस तरह न हुआ कि जिससे वे ऐसे जीवन के लिए तैयार हो, तो स्पष्ट है कि हमारा स्वतत्रता का ध्येय कभी सिद्ध न हो सकेगा। सम्भव है, इस कथन पर, कि स्वतत्र दृष्टि से भी सादा और श्रमयुक्त जीवन ही इष्ट है, हमें आपत्ति हो। किन्तु इस बात में तो

किसीको ज़रा भी शंका न रहनी चाहिए कि हिन्दुस्तान के स्वराज की प्राप्ति के लिए यह पहली और अनिवार्य शर्त है।

सम्भव है, ये बातें बहुत अरुचिकर और कठिन मालूम हों। किन्तु मैं समझता हूँ कि जिनके अन्दर देश को स्वतंत्र करने की सच्ची लगन है, वे गांधीजी के तरीक़ों को माननेवाले हों, या समाजवाद के सिद्धान्तों से प्रेम रखनेवाले हों, या इन दोनों से भिन्न किसी तीसरे मार्ग के अनुयायी हों, उनके लिए और सब बातों की सचाई की अपेक्षा इन बातों की सचाई को पहचानने, इनकी क़द्र करने और इनके लिए कमर कसकर तैयार हो जाने की ज़रूरत है। जीवन का विचार करनेवाला कोई भी तत्त्वज्ञान, चाहे वह आध्यात्मिक सिद्धान्त के नाम से पुकारा जाता हो, या भौतिक सिद्धान्त के नाम से, यदि संयम, इन्द्रिय-निग्रह और स्वेच्छापूर्वक स्वीकार की हुई सादगी (जिसे दूसरे शब्दों में अस्तेय, अपरिग्रह, अलोभ अथवा ग़रीबी का व्रत कहा जा सकता है) के प्रति तुच्छता या तिरस्कार का भाव रखता हो, और तरुण प्रजा के मन में इन्द्रियाभिमुख भोगलोलुप जीवन की वासनाओं को बढ़ाता हो, तो उसका एक ही परिणाम होगा और वह यह कि स्वतंत्रता का दिन और और आगे खिसकता चला जायगा। यह सिद्धान्त एक सचाई है। इसे हम जल्दी समझें, या देर से समझें, समझना तो पड़ेगा ही। जल्दी समझने में कल्याण है; देर से समझने में जोखिम है; क्योंकि हो सकता है, हम इतनी देर में समझें कि उसके बाद समझते हुए भी हाथ मलकर रह जाना पड़े—बाज़ी हाथ से निकल चुके। और यह तो निर्विवाद है कि संयमी,

इन्द्रियजित और सादा जीवन बितानेवाली जनता के बल पर ही देश स्वतन्त्र और समृद्ध बन सकेगा ।

२

अब जिनकी बुद्धि या हृदय गाधीजी के विचारो तथा मार्गों के प्रति विशेष आकृष्ट होता है, उनसे दो-चार बातें मै कहना चाहता हूँ । गाधीजी के विचारो—अथवा कहिए, पद्धतियो—में कुछ तत्त्व तो ऐसे है, जो अचल कहे जा सकते है । जो लोग उनके जीवन या उपदेश से प्रेरणा या मार्ग-दर्शन चाहते है, उनके लिए वे आचरणीय है ।

इस प्रकार का पहला अचल तत्त्व यह है, कि जीवन की सभी समस्याओ का विचार और हल सत्य, अहिंसा और सेवा द्वारा ही करने का प्रयत्न होना चाहिए ।

इसमें सत्य, अहिंसा और सेवा, ये तीन अग या मर्यादायें कही गई है । इनका क्रमश अलग-अलग विचार करना ठीक होगा ।

'सत्य' मे नीचे लिखी बातो का समावेश होता है—पूर्वग्रह से दूषित न होना, किन्तु सत्य को मानने के लिए सदा तैयार रहना, और इस कारण असत्य से, फिर वह कितना ही पुराना या बहुमान्य क्यो न हो, और उसमें हम कितने ही आगे क्यो न बढ चुके हो, वापस लौटने में भय या लज्जा न रखना, और साथ ही, जिस समय जिस बात के बारे में सत्यता का विश्वास हो, उसके लिए अपना सर्वस्व खोने को तैयार रहना ।

'अहिंसा'—इसका अर्थ होता है हर प्रकार के अधर्म का—गाधीजी की भाषा में कहे तो—पशुबल से नही, बल्कि 'आत्म-

२ बल से विरोध करना। गांधीजी कई बार समझा चुके हैं कि अहिंसा कोई निष्क्रिय अभावात्मक मनोवृत्ति नहीं है, बल्कि वह प्रवाह के विरुद्ध चलने की एक क्रियात्मक और भावनाप्रधान प्रवृत्ति है। दुनिया में हिंसा का प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है। और बुद्धि तथा विज्ञान की सहायता से उसकी पद्धतियों को पूर्णता तक पहुँचाने और हिंसा का एक शास्त्र तैयार करने के प्रयत्न सदियों से हो रहे हैं। जिसका हिंसाबल विपक्षी के हिंसाबल की अपेक्षा अधिक संगठित, सुधरा हुआ और साधन-सम्पन्न होता है, उसके लिए हिंसा द्वारा अपने भौतिक ध्येय को सिद्ध करने का मार्ग खुला है ही। ऐसी कोई बात नहीं है कि इस बल का उपयोग केवल अधर्म और अन्याय के विरुद्ध ही हो सकता है। इसमें तो जो ज्यादा बलवान होता है वही जीतता है; फिर भले उसका पक्ष अधर्म का ही क्यों न हो; इसका एक ताजा उदाहरण इटली-अबीसीनिया का युद्ध है। अगर विपक्षी अधिक बलवान है, तो स्पष्ट है कि इस मार्ग का अवलम्ब करने से हानि-ही-हानि होगी। अतएव आध्यात्मिक दृष्टि को भुलाकर केवल व्यावहारिक दृष्टि से सोचें, तब भी यह सिद्ध होता है कि जिन साधनों में विपक्षी हमसे अधिक बलवान और कुशल है, उन साधनों का उपयोग करने की लालच में न पड़कर एक बिलकुल नये प्रकार के साधन की खोज करना, उसका विकास और संशोधन करके उसे सम्पूर्ण बनाना और उसके प्रयोग में कुशलता प्राप्त करना आवश्यक है। अहिंसा अथवा प्रेम में—अर्थात् विपक्षी को दण्ड देकर नहीं, किन्तु स्वयं कष्ट सहकर उसे जीतने की रीति में—

जो शक्ति है, वह है तो हिंसा के जितनी ही पुरानी, किन्तु अभी योग्य अनुशीलन द्वारा उसका सम्यक् विकास नही किया गया है। वैज्ञानिको का कथन है कि गुरुत्वाकर्षण का नियम ससार को पहले-पहल न्यूटन नें दिया। इसका यह अर्थ नही कि न्यूटन ने ही पहले-पहल गुरुत्वाकर्षण की शक्ति का और उसके प्रयोग के नियमो का निर्माण किया। गुरुत्वाकर्षण का नियम तो न्यूटन से पहले भी ससार मे मौजूद था और लोग उसे बिना जाने, बिना उसका नाम रखे व्यवहार में उससे लाभ उठाते थे। किन्तु लोगो को उसका विधिवत् ज्ञान न था, और गणित के नियम न बने थे। न्यूटन ने इन नियमो का पता लगाया और इन्हे दुनिया को समझाया। उसके परिणामस्वरूप अनेक वैज्ञानिक आविष्कार किये गये, और अनेक सुधरी हुई कार्य-पद्धतियो का जन्म हुआ। अहिंसा को गाधीजी का 'आविष्कार' कहे, तो वह इसी तरह का हो सकता है। अहिंसा या प्रेम नाम की कोई ऐसी नई शक्ति, जो पहले ससार में थी ही नही, उन्होने पैदा नही की है। यह शक्ति तो ससार में आदिकाल से रही है, और जाने-अनजाने इसका उपयोग भी होता रहा है। इसका तो नाम और स्वरूप भी अज्ञात न था। कुछ क्षेत्रो में इसका ज्ञानपूर्वक उपयोग भी हुआ है, और सैंकडो पुरुषो ने इसकी महिमा का वर्णन किया है। किन्तु इस श्रद्धा के साथ कि हिंसा के समान ही इसका भी नानाविध उपयोग और विकास हो सकता है, यह एक बलवान शक्ति है, और इसके गर्भ में अनेक प्रसुप्त और अनाविष्कृत विधायें (प्रयुक्तियाँ) होनी चाहिएँ, गाधीजी ने अपने जीवन में इसे सशोधित और विकसित करने का प्रयत्न

किया, और आज भी कर रहे हैं। हिंसा के क्षेत्र में सशस्त्र मोटर (टैंक), मशीनगन, विमान, विषैली वायु, बम आदि मनुष्य को मारने और पीटने की अनेक विद्याओं (प्रयुक्तियों) का तथा इनकी सहायता के लिए गुप्तचर-विद्या, रिश्वतखोरी, झूठे प्रमाण, झूठे प्रचार आदि अनेक असत्यात्मक उपकरणों का जो विकास हुआ है, वह भी कोई आजकल की मेहनत का नहीं, युगों के मेहनत का परिणाम है, और उसके पीछे हजारों बुद्धिमान् मनुष्यों की अपार शक्ति और अनन्त धन खर्च हुआ है। यदि अहिंसा की शक्ति का विकास करना हो, तो उसके लिए श्रद्धावान तथा दृढ़ लगनवाले सशोधकों की सेवा समर्पित होनी चाहिए। अतएव जिन्हें गांधीजी के मार्गों में श्रद्धा है, उनके सामने एक स्पष्ट जीवन-कार्य तो है ही। यह कि अपने जीवन के विविध कार्यों में बुद्धिपूर्वक अहिंसा का प्रयोग करके उसमें विद्यमान प्रसुप्त शक्तियों का पता लगाने और उनका विकास करने में अपनी ओर से सहायता पहुँचाना। शस्त्रों के आविष्कार में पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्र की दृष्टि आवश्यक होती है; अहिंसा के सशोधक में प्रेम के उस अटूट भण्डार की आवश्यकता है, जो वेगवान और क्रियावान होते हुए भी स्वार्थ और मोह से रहित हो। यह नहीं, कि इसके लिए बुद्धि की कुशाग्रता आवश्यक नहीं है। है, किन्तु यदि सशोधक का प्रेम-कोष खाली हो, तो अकेली बुद्धिशक्ति उसके कार्य में बहुत सहायक नहीं हो सकती।

गांधीजी की पद्धति का तीसरा अचल तत्त्व 'सेवा' है। वास्तव में यह कोई पृथक् अंग नहीं है, बल्कि सत्य और अहिंसा

के एकत्र प्रयोग में से ही यह पैदा होता है। व्यावहारिक दृष्टि से इसका सीधा मतलब यह है कि यदि जनता की सीधी और प्रत्यक्ष सेवा के किसी कार्यक्रम पर अमल न होता हो, तो सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि विषयो पर विद्वत्तापूर्ण और भक्तिपूर्ण पुस्तको, प्रवचनो या कीर्तनो द्वारा गाधीजी के तत्त्वो या उपदेशो का प्रचार, या सत्य और अहिंसा की शक्तियो का विकास नही किया जा सकता। लेख, भाषण आदि प्रचार के साधन यत्रो के समान है। यन्त्र की तरह वे स्वय निर्दोष है—अथवा अधिक सच्चे विशेषण का उपयोग करे, तो निर्गुण या गुण-दोषहीन है—पर, आज की परिस्थिति में उनपर अहिंसा के उपासको की अपेक्षा हिंसा के उपासको का विशेष प्रभुत्त्व है। इसलिए वे उनका अपने हित के लिए अधिक सरलता से उपयोग कर सकते है। अत जिन साधनो का हम उपयोग करे वे एकदम अनोखे और स्वतत्र ही होने चाहिएँ। और ऐसा साधन है. मूक तथा जरूरत हो तो जान-बूझकर अप्रकाशित रक्खी हुई प्रत्यक्ष सेवा।

समाज की किसी भी उलझी हुई समस्या के निराकरण के लिए ऊपर के अगो को ध्यान में रखकर ही कार्य क्रम की कोई दिशा निश्चित की जा सकती है। इसे आप गाधीजी की मर्यादा कहना चाहे, तो यह उनकी मर्यादा है। असल में तो ये मर्यादायें नही, बल्कि मनुष्य जाति के हितसवर्धन की अनिवार्य शर्ते है। इन शर्तो का ध्यान रखकर गाधीजी के विचारो के अचल तत्त्वो की शोध करने से मालूम होता है कि जनसाधारण का—बल्कि सब प्रकार के निर्बलो का—सबलो द्वारा जो शोषण और वचना (ठगाई) होती है, उनके प्रति उनका

१६ विरोध किसी भी समाजवादी के समान ही तीव्र है, यही नही, बल्कि उनके प्रयत्नो के पीछे धनी और अधिकारी वर्गो द्वारा होनेवाले शोषण और वचना को रोकनेभर की ही अभिलाषा नही है, बल्कि बुद्धिमान लोग बुद्धिहीनो से जो अनुचित लाभ उठाते है, उसका प्रतिकार करने की भी इच्छा है। अर्थात्, यदि शोषण और वचना को रोकने का कोई सत्याग्रही उपाय उन्हे मिल जाय, तो किसी भी प्रकार के निर्बल वर्ग की किसी भी प्रकार के सबल वर्ग द्वारा की जानेवाली हानि को वे एक दिन के लिए भी सहन नही करेगे।

शोषण और वचना को रोकने का प्रश्न निजी सम्पत्ति के प्रश्न से जुडा हुआ है, और प्राय यह माना जाता है कि ये दोनो एक ही है। 'गाधीवाद'-समाजवाद की चर्चाओ मे अधिकतर इसी पर गरमागरम वाद-विवाद होता है। सच पूछा जाय, तो इस विषय में गाधीजी के विचार कदाचित् उग्र से-उग्र साम्यवादी (कम्युनिस्ट) की अपेक्षा भी आगे बढे हुए है। उनके सिद्धान्त के अनुसार तो किसी भी मनुष्य के पास किसी भी प्रकार का परिग्रह न होना चाहिए। सम्पत्ति के व्यक्तिगत परिग्रह को वे सह लेते है, इसका यह कारण नही है कि उन्हे सम्पत्ति या परिग्रह का मोह है, अथवा यह कि मनुष्यजाति के उत्कर्ष के लिए वे सम्पत्ति के सग्रह को आवश्यक समझते है, बल्कि कारण यह है कि व्यक्तिगत परिग्रह बढाने और जुटाने की प्रथा को मिटाने का कोई सत्याग्रही मार्ग उन्हे अभीतक मिला नही है। मेरा ख़याल है कि सभी पथो के समाजवादी मनुष्यजाति के सुख के लिए धन-सम्पत्ति के सग्रह को और उसकी विपुलता

को आवश्यक ही मानते है। गाधीजी इसे सिद्धान्त रूप मे स्वीकार नही करते। आज पसीना बहाकर आज का भोजन पाने और कल के लिए कल फिर पसीना बहाने की तैयारी रखने के आदर्श में किसी समाजवादी को श्रद्धा नही है, पर गाधीजी को है। लेकिन यह तो आदर्श की बात हुई। व्यावहारिक दृष्टि से इसका विचार करते हुए गाधीजी इस बात को समझते है कि आज ही उस समय की कल्पना कर लेना सभव नही है, जब कि मनुष्य-जाति परिग्रह छोडने को तैयार हो जायगी। अत विचार के लिए सिर्फ इतनी ही बात रह जाती है कि जिन लोगो के कब्जे मे या अधिकार मे धन-सम्पत्ति का भण्डार प्रत्यक्ष हो, वे उसे किस दृष्टि से अपने पास रक्खें, अथवा किन शर्तों पर उसे उनके पास रहने दिया जाय? गाधीजी कहते है, कोई भी सम्पत्ति किसी एक व्यक्ति के अधिकार में हो या अनेक व्यक्तियो से बने किसी मण्डल के अधिकार मे हो, और वह अधिकार उन्होने उस समय के कायदे के अनुसार पाया हो, या गैरकानूनी तौर पर पाया हो, लेकिन वे उसे अपने पास अपने निजी उपयोग के लिए नही, बल्कि समाज की ओर से समाज के उपयोग के लिए ही रख सकते है, अर्थात् उन्हे और दूसरो को समझना चाहिए कि वे उस सम्पत्ति के 'ट्रस्टी' या सरक्षक है। इस 'ट्रस्टी' शब्द के कारण कुछ गलतफहमी पैदा हो गई है। इसकी भी वजह तो यह है कि अभीतक लोग इस बात को समझने के आदी नही हुए है, कि गाधीजी जब कुछ कहते है, तो, जो कुछ कहते है, उसके पूरे-पूरे अर्थ पर जोर देकर ही कहते है। गाधीजी के शब्दो को भी राजनीति के मुसद्दियो और वक्ताओ की तरह

समझने की भूल की जाती है। अंग्रेज राजनीतिज्ञोने कई बार कहा है कि हिन्दुस्तान मे ब्रिटिश सरकार का अस्तित्व भारतीय जनता के कल्याण के लिए और उसके ट्रस्टी के रूप में है। लेकिन हमे अनुभव तो यह हुआ है कि इस भाषा के अनुसार आचरण करने की उनकी रत्तीभर भी नीयत नही है। अतएव अब हम समझ चुके है कि इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करके निरे दम्भ और भटैती-भरे शब्दो द्वारा हमें भुलावे में डालने की ही उनकी नीयत होती है। गाधीजी पर भी यह शक किया जाता है कि सम्पत्तिवालो का पक्ष लेने के लिए ही वे इस प्रकार की दम्भपूर्ण भटैती किया करते है। पहले एक बार ऐसा हो भी चुका है। गोलमेज परिषद् मे जब गाधीजीने यह घोषित किया कि हरिजनो को हिन्दुओ से पृथक् करने के प्रयत्न का वह प्राणपण से विरोध करेंगे, तो उनके इन शब्दो पर किसीने बहुत ध्यान नही दिया। बहुतोने तो यही समझा कि यह सिर्फ वक्तृत्वकला का एक अलकार है। फलत, उन्हे अपने शब्दो को सत्य सिद्ध करने की आवश्यकता हुई। इसी प्रकार जब वे कहते है कि जिनके पास सम्पत्ति है, वे उसके मालिक नही, किंतु ट्रस्टी हैं, तब उनके इन शब्दो को वाणी का अलकार-मात्र मान लिया जाता है। आक्षेपको के मन में इस प्रकार का भी शायद एक अस्पष्ट-सा ख़याल रहता है कि कानून की रु से बने हुए ट्रस्टियो के और धर्म की रु मे बने हुए ट्रस्टियो के कर्तव्य में कुछ भेद होता है; अर्थात्, यदि दूसरे प्रकार के ट्रस्टी सम्पत्ति के सच्चे अधिकारियो के प्रति अपने कर्तव्य का पालन न करे, और स्वय ही उस सम्पत्ति का उपभोग करे, तो कोई हर्ज न होगा। किन्तु गाधीजी ऐसा

कोई भेद नही मानते है। गाधीजी की यह आदत ही नही कि किसी सिद्धान्त को आचरण का रूप देने की साधन-सुविधा न होते हुए भी, उसका प्रतिपादन करने बैठ जायें। वे मानते है कि मनुष्य के सुखपूर्वक निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है, उसे छोडकर शेष सारे अधिकार का उपभोग दूसरो की अनुमति से ही किया जा सकता है, फिर भले ही वह अनुमति निर्बलतावश दी गई हो, या अज्ञानवश। किन्तु निर्बलता के मिटने और उसके स्थान पर शक्ति का उदय होने और अज्ञान के स्थान ज्ञान पैदा हो जाने पर उस अतिरिक्त सम्पत्ति के ऊपर केवल ट्रस्टी के नाते ही अधिकार रह सकता है। अत यदि आवश्यकता है, तो जनता को बलवान और ज्ञानवान बनाने की है। और जब हम सोचते है कि इसके लिए किस प्रकार का बल उत्पन्न करना उचित है, तो हमें पता चलता है कि जनता में उत्पन्न किया जानेवाला वह बल अहिंसामय ही होना चाहिए—बशर्ते कि हम चाहते हो कि जो आज सम्पत्तिहीन है, उनके हाथ मे सम्पत्ति का अधिकार आते ही वे भी आज के सम्पत्तिशालियों की तरह जालिम या अत्याचारी न बनें। और गाधीजी का तो यह दावा है कि हिंसक बल पैदा करने की अपेक्षा यह अहिंसक बल निर्माण करना अधिक सरल है। इस विषय की इससे अधिक चर्चा आज नही की जा सकती, क्योकि गाधीजी और उनके इस विचार से सहमत उनके साथी इसे प्रत्यक्ष आचरण मे लाने का प्रयोग अभी तो कर ही रहे है।

३

इतना लिख चुकने के बाद ऊपर दी गई दृष्टि के प्रकाश में

२० गांधीजी की वर्तमान प्रवृत्तियो की छानबीन करना शायद बोधप्रद होगा। कांग्रेस से अथवा प्रत्यक्ष राजनीति से निवृत्त होकर ही वे सन्तुष्ट न हुए। मगनवाड़ी में बैठे-बैठे ग्राम-उद्योग के भिन्न-भिन्न पहलुओं की ओर ध्यान दिलाकर और मार्ग-दर्शन करा के ही उन्होंने सन्तोष न माना। बल्कि उन्हें डाक-तार की सुविधा से रहित, बरसात मे कठिन कीचड़ से घिर जानेवाले 'सेगाँव' में जाकर बैठने की इच्छा हुई। देश की जो विकट समस्याएँ कांग्रेस को, विद्वान् लेखको को और सरकार को परेशान किये हैं, उन समस्याओ का अहिंसात्मक निराकरण ढूँढने का यह तरीका गांधीजीने अपनाया है। अगर यह कहे कि विकट या महान् समस्याओ का निराकरण ढूँढने का विचार ही उन्होंने तज दिया है,तो वह शायद उनकी शान में एक असगत-सी बात होगी। फिर भी संभव है कि लोग ऐसा समझें और यह सोचकर अपना मन मना ले कि भले अब गांधीजी थोडा आराम करे। लेकिन, बहुतो को तो यह कल्पना ही अत्यन्त असगत और विलक्षण लगेगी, कि इस तरीके से गांधीजी देश की महान् समस्याओं को हल करने की कोई कुंजी तलाश कर रहे है। तो भी गांधीजी के लिए तो यही नितान्त स्वाभाविक और सुसगत रीति है। देहातियो, और उनमें भी समाज की अत्यन्त निचली श्रेणी के कहे जानेवाले देहातियो के सीधे सम्पर्क में आकर वह इन समस्याओं का अहिंसात्मक हल पा जाने की आशा रखते हैं। उन्होंने अपने आस-पास देहाती हरिजनो को इकठ्ठा किया है। इन लोगों को अगर वह धूल से धान पैदा करना सिखा सके, इनको इस योग्य बना सके कि ये अपने लिए स्वच्छ दूध और साफ

गुड प्राप्त करने लगें, इन्हे पढा-लिखाकर वर्तमान घटनाओ से
परिचित करा सके, और यदि इनके गाँव को गन्दगी और गन्दगी
से पैदा होनेवाले रोगो से बचा सके, तो क्या शक है कि सेगाँव के
लोगो को मनुष्यमात्र में—और फलत अपने में—रहनेवाली
सुप्त शक्ति का भान हो जाय? अत यह कोई असम्भव बात नही
है कि किसी दिन यही देहाती सरकार का और सारे हिन्दुस्तान
का ध्यान अपनी ओर खीच ले। लेकिन इसके लिए तो कल्पना को
बहुत दूरतक दौडाना पडेगा। इस काम की कठिनाइयो का खयाल
गाधीजी को है। किन्तु वह श्रद्धापूर्वक इस बात को मानते है कि
जो काम मनुष्य को असभव मालूम होता है, ईश्वर उसको सभव
कर सकता है, क्योंकि उसके लिए असम्भव कुछ है ही नही।
जिसकी कृपा से 'मूक होय वाचाल, पगु चढे गिरिवर गहन,'
उस सत्य और अहिंसा—अर्थात् प्रेम-रूपी परमेश्वर—में गाधीजी
की अटल श्रद्धा है।

गाधीजी की कार्य-पद्धति के एक दूसरे लक्षण का उल्लेख
करके मैं इस लेख को समाप्त करूँगा। यह तो कोई नही कहेगा
कि आन्दोलनो और मानव-समूहो को इकट्ठा करने की रीति से
गाधीजी अनभिज्ञ है। उलटे, जब-जब उन्होने आन्दोलन उठाये
है और सम्मेलन किये है, तब-तब उन्होने सारे ससार का ध्यान
अपनी ओर आकर्षित किया है। किन्तु यदि हम विविध प्रश्नो-
सबधी गाधीजी के विचारो और आचारो की नीति को बुद्धि-
पूर्वक समझना चाहते है, तो उनके आन्दोलनो और सम्मेलनो के
कार्यक्रमो में जो एक विशेषता सदा से रहती आई है, उसे हमें
कभी नही भूलना चाहिए। और वह विशेषता यह है कि जबतक

२२ किसी अन्याय के प्रतिकार के लिए जनता को किसी निश्चित मार्ग से लेजाने की उनकी तैयारी नहीं होती, तबतक उस अन्याय के प्रति उनके मन में कितना ही दु ख क्यो न रहे, वे उसके सबंध में जनता के भावो को कभी उत्तेजित नही करते। अन्याय का सीधा इलाज करने के बदले जिन थोथे आन्दोलनो में केवल समाचार-पत्रो के पृष्ठ रँगने और साबुन के बुलबुलो की तरह क्षणिक प्रदर्शन करने की दृष्टि मुख्य रहती है, उनमे उन्हे कोई श्रद्धा नही। गाधीजी जब कभी किसी प्रश्न को उठाते है, और उस सम्बन्ध में लोकमत को जगाने का प्रयत्न करते है और उसके लिए किसी प्रकार का आकर्षक कार्यक्रम सुनाते है, तब जरूर यह आशा रखी जा सकती है कि उसके पीछे कोई प्रभावशाली और यदि आवश्यक हो तो अग्रगामी कदम उठाने की बात उनके ध्यान में आई है। जबतक ऐसा नही होता, वह इस प्रकार के अन्यायो के विषय में मौन ही रहते है, और दूसरो को भी मौन धारण की सलाह देते हैं, और ऐसा करके अपने सम्बन्ध में पैदा होनेवाली गलतफहमी का जोखिम भी उठा लेते है।

मै समझता हूँ कि गाधीजी के 'अनुयायी' को श्रद्धापूर्वक कार्यरत रहने के लिए इतनी सामग्री पर्याप्त होनी चाहिए। आज देश के सामने अत्यन्त गम्भीर, महत्त्वपूर्ण, अत्यन्त जटिल और सारी दुनिया से सम्बन्ध रखनेवाले कई कूट प्रश्न उपस्थित है और आगे भी उपस्थित होगे। हम में से कुछ लोग, जो अधिक विद्वान और बुद्धिशाली हैं, पहले इनका प्रत्यक्ष अनुशीलन करके इनमें निष्णात बनेंगे। औरो को, मजबूरन इन निष्णातों के द्वारा, परोक्ष रीति से, अपने मत स्थिर करने होगे।

असल मे तो जो विद्वान् निष्णात के नाम से मशहूर है, उनमें भी बहुतो के मत अधिकतर परोक्ष आधारो पर बने होते है। ससार में आज कोई भी इतना चतुर, विद्वान् और निष्णात पुरुष नही है, जो ससार को परेशान करनेवाले कूट प्रश्नो के बारे में बिलकुल सच्ची और सशयरहित सफाई दे सके, उपाय सुझा सके, या कोई भविष्यवाणी कर सके। हकीकत यह है कि जो मत आज दावे के साथ पेश किया जाता है, वही मत छ महीनो बाद झूठा हो जाता है। अतएव ऐसे प्रश्नो की अत्यन्त शास्त्रीय चर्चा नि सार, समय को बरबाद करनेवाली, निकम्मी और कइयो को अधिक उलझन में डालनेवाली हो पडती है, क्योंकि ऐसी चर्चाओ का अधिकतर आधार अप्रत्यक्ष और अपूर्ण जानकारी ही होती है। इस प्रकार की चर्चाओ द्वारा बुद्धि को उलझन मे डालने की अपेक्षा गाधीजी की तरह यह मानना कि 'मेरे लिए यह एक कदम काफी है', कही अधिक सुरक्षित है। इसके विपरीत, जब आदमी किन्ही प्रश्नो के सबध में बहुत जल्दी से अपना मत निश्चित कर लेता है, तब उसकी बुद्धि का विकास [illegible] जाता है। जिन प्रश्नो को हल करना [illegible] हमारे लिए सभव न हो, उनपर तत्काल कोई राय कायम न करना ही बेहतर है।

गांधीजी की पद्धतियो पर और उनके 'रचनात्मक कार्यक्रमो' पर बहुतेरे बुद्धिमान लोगो की श्रद्धा आज नही जम रही है। [illegible] वह आकर्षक और उत्साहवर्धक नही मालूम होते। पर [illegible] कोई [illegible] नही है। इस विषय में उनके साथ [illegible] [illegible] रहना, दोनो

ही व्यर्थ है। उनपर नाराज हुए विना, उन्हें उनके विचारों और भावनाओं के अनुसार रहने और करने की स्वतंत्रता देनी चाहिए। यदि उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि गांधीजी के विचारों और मार्गों का खंडन किये विना वे रही नहीं सकते हैं, तो यह सोचकर कि ऐसा करने का भी उन्हें अधिकार है, हमें उनपर गुस्सा न होना चाहिए। क्योंकि हमें तो यह आशा रखनी चाहिए कि प्रत्यक्ष प्रमाणों से सत्य और अहिंसामय प्रवृत्तियों के परिणामों को सिद्ध करके ही हम उन्हें जीत लेंगे।

अन्त में, मुझे यह कहना है कि गांधीजी की इच्छा के विपरीत भी यदि 'गांधीवाद' शब्द को जीवित रहना है, तो कम-से-कम हमें यह समझ लेना चाहिए, कि यह एक कार्य-पद्धति का सूचक शब्द है; किसी व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित समाज-व्यवस्था की रचना विशेष का सूचक नहीं।

: २ :

समाजवाद या समाजधर्म ?

[श्री० किशोरलाल घ० मशरूवाला]

यह एक विचार करने योग्य सवाल है कि हमको जगत में प्रथम किस बात की जरूरत है—समाजवाद की या समाजधर्म की ? सब लोग सुखी हो, कोई गरीब न हो, सभी को आरोग्य, बल, बुद्धि, विद्या, सपत्ति, आदि सुख के साधन प्राप्त हो, सर्वत्र समानता का व्यवहार हो, आदि शुभेच्छाएँ, पुराने ज़माने से प्रार्थना, नाटक, आदि के अन्त में हम लोगो में प्रकट की जाती है। मतलब यह कि समाजवाद के इस ध्येय से किसी समझदार (विवेकी) मनुष्य का विरोध नही हो सकता है। किसी समझदार मनुष्य को समाज की ऐसी हालत में सन्तोष नही हो सकता कि जिसमें कुछ व्यक्तियों के पास तो अपार सपत्ति, अधिकार, उच्च दर्जे और फ़ुरसत हो, और अधिकाश लोगो को अत्यत परिश्रम करने हुए भी तगी, अधीनता, भय और जी-हुजूरी में ही जीवन काटना पड़ता हो। न तो हमारे देश के, और न किसी दूसरे देश के ही किसी महात्मा पुरुष ने यह हालत कभी अच्छी समझी है, अथवा ऐसा उपदेश ही दिया है। यह भी बात नहीं है कि ऐसे महात्मा पुरुष सिर्फ अरण्यवासी—जनता से अलग रहना ही पसन्द करनेवाले—रहे है। उनमें से कई ने तो स्वय, और कई के शिष्यों ने राजसत्ता भी प्राप्त की थी, और उस ध्येय की दिशा में कुछ चेष्टाएँ भी की थी। फिर, अनेक प्रकार की राज्य प्रणालियों के भी प्रयोग हो चुके है। [illegible] सत्ता, चन्द बड़े और ऊँचे

सुयान्तर ने लोगों की सत्ता, गर्दन जनता की सत्ता—आदि अनेक
प्रकार के राजतन्त्र इस जीवन में पाए जाते हैं। लेकिन इनमें
तक मानव-जाति समानता के आदर्श को व्यवहार में सिद्ध करने में
सफल नहीं हुई है। ऐसा क्यों है?

मुझे तो लगता है कि जबतक मानव हृदय में व्यापकता न
उदय न हो, तबतक समानवाद—यानी समानता का आदर्श—
अधिकार के जोर पर स्थापित राजतन्त्रों द्वारा सिद्ध होने वाली
चीज़ ही नहीं है। अभी तक मानव हृदय इतना समृद्ध होने
नहीं पाया है कि वह अपने वैयक्तिक सुख, स्वामित्व, शक्ति, अधि-
कार, आदि की आकांक्षाओं को भूल ही जाय, और सार्वजनिक
सुख को ही जीवन का ध्येय बनाले। जबतक मानव हृदय की
ऐसी अवस्था है, तबतक किसी भी स्वरूप के राजतन्त्र द्वारा
समानता की सिद्धि होना मुझे असम्भव मालूम होता है। तख्त-
क्रान्ति से केवल इतना ही हो पाता है कि एक पक्ष के हाथ में से
दूसरा पक्ष राज्यलक्ष्मी को छीन लेता है, कुछ दिन तक उस राज्या-
धिकार का सदुपयोग करता है और बाद को दुरुपयोग करने लगता
है तथा अपना अधिकार बनाये रखने के लिए जनता का दमन
करता है। जबतक मानव समाज की व्यवस्था बल की नींव पर
बने हुए राज्यतन्त्रों पर अवलंबित रहेगी, तबतक उस राज्यतन्त्र
का स्वरूप कैसा भी क्यों न हो, उसमें से वर्ग-विहीनता पैदा हो
ही नहीं सकती। मानव जाति में निर्माण होने वाली वर्ग-रचनाएँ
खुदाई—प्रकृति की व्यवस्था में अनिवार्य—चीजें नहीं हैं। पर
जबतक मानव हृदय में यह वृत्ति जोर पर है कि पड़ोसी के सुख
और अपने सुख के बीच में संघर्ष होने पर वह अपने सुख का

पहला खयाल करे, अथवा पडौसी का सुख बढाने के लिए स्वय
उसे कुछ तकलीफ न उठानी पडे, बल्कि बन सके तो पडौसी के
श्रम द्वारा स्वयं ही कुछ लाभ उठा ले, अथवा जबतक यह वृत्ति
मौजूद है कि कितना अच्छा हो यदि बिना परिश्रम किये वह सब
सुखो को प्राप्त कर सके—यानी परिश्रम से बचने ही मे आनन्द
माने—तबतक वह यही कोशिश करता रहेगा कि सुख के साधनो
पर उसका अपना कब्जा हो जाय, और वह बल उसे प्राप्त हो कि
जिससे वह कब्जा उसके पास कायम रहे।

निजी जायदाद न होने से ही मनुष्य प्रोलेटेरियन—अकिंचन—
नही होता। जो मनुष्य चाहता है कि उसके पास अपनी निजी
जायदाद हो और वह बढती रहे, वह आज भले ही अकिंचन हो,
पर वस्तुत वह मालदारो के वर्ग का ही है। मेरा मतलब यह
नही है कि अकिंचनता केवल मानसिक भाव है, और स्थूल रूप में
मालदार होने पर भी मानसिक अकिंचनता का दावा करना
बिलकुल सही है। साधारणतया मानव हृदय में जायदाद पर
कब्जा रखने की लालसा इतनी प्रबल दिखाई देती है कि अपनी
सारी निजी जायदाद का विसर्जन कर देने पर भी उसकी व्यवस्था
और उपयोग में उसकी आग्रह-युक्त दिलचस्पी रहती है। इतना
ही नही, बल्कि फिर तो दूसरो की जायदाद की व्यवस्था और
उसका उपयोग करने का भी बलवान मोह आ सकता है। मतलब
यह कि सपत्ति का प्रभाव मानव-हृदय पर अजीबसा है। और इसी
कारण अकिंचनता की नितान्त सिद्धि होने नही पाती। अकिंचनता
को मनुष्य कष्टमय स्थिति ही समझता आया है। आदर्श अथवा
इष्ट स्थिति है—ऐसा नही समझता। इसलिए जबतक यह मानव

स्वभाव है, तबतक अकिंचन—वर्गहीन—समाज कायम नही होगा ।

और जबतक मनुष्य के हृदय पर इस सस्कार का जोर है कि परिश्रम करना आफत है, उससे बचना ही सुख है, तबतक भी वर्गहीन समाज का कायम होना असभव मालूम होता है। जीवन-निर्वाह के आवश्यक पदार्थ शरीर-बल से पैदा किये जायँ या यत्र-बल से, यह गौण प्रश्न है। परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर यत्र के उपयोग की मर्यादा निश्चित करने का ही यह सवाल है। लेकिन इतना तो निश्चित है कि चाहे शरीर-बल का अधिक उपयोग करे अथवा यत्र-बल का, जीवन-निर्वाह के आवश्यक पदार्थों को पैदा किये बिना काम नही चलेगा। अर्थात् अन्न, वस्त्र, मकान, रास्ते, रोशनी, सफाई, बाल-वृद्ध-निर्बलो का पालन, शिक्षा, आदि की व्यवस्था करनी ही होगी। केवल एक बटन दबा देने से ही, इनमें से अधिकाश काम यदि सभव भी हो तब भी, बटन दबाने का परिश्रम और उसकी चिन्ता तो किसी को करनी ही होगी। लेकिन जब परिश्रम को कष्ट मानने का सस्कार मनुष्य बना लेता है, तब बटन दबाने और उसकी चिन्ता करने में भी उसे आफत मालूम होती है, और वह इच्छा करता है कि कोई दूसरा उस जिम्मेदारी को ले ले और वह स्वय पडा रहे अथवा कुछ दूसरा 'विशेष महत्त्व' का काम करता रहे। उठ कर घडे में से पानी लेकर पी लेना, अथवा लोटा लेकर जगल चले जाना, ये तो कोई बडे परिश्रम के काम नही है। लेकिन इनमें भी मनुष्य तकलीफ समझता है। चाहता है कि पत्नी या लडका या नौकर पानी ला दे, लोटा भर दे, और नौकर लोटा लेकर

साथ चले। सोना तो हरेक मनुष्य चाहता है और आराम से
सोना चाहता है, पर साथ ही वह यह भी चाहने लगता है कि उसका बिछौना कोई दूसरा आदमी तैयार कर दे, ताकि उतने समय में वह श्रमजीवियो की अवस्था पर एक लेख या कविता की कुछ पक्तियाँ लिख डाले।

यह बात भी नही है कि मनुष्य को शारीरिक परिश्रम से ही हमेशा एतराज़ है। दड, बैठक, कुश्ती, आदि व्यायाम के लिए, या पैदल घूमने के लिए वह तैयार हो ही जाता है। पर अजीब बात है कि जिन पर अपना जीवन निर्भर है, उनके लिए ज़रा-सा भी परिश्रम करने में वह कष्ट महसूस करता है। मित्रो के साथ गप्प उडाने के लिए वह रात भर जागरण करेगा, लेकिन खेत की रखवाली करने के लिए किसी और को ढूढेगा।

इस प्रकार हम देखते है कि असल बात यह है कि जबतक सकल्प मात्र से जीवन-निर्वाह के सब साधन प्राप्त करने की मनुष्य ने शक्ति प्राप्त नही की है, तबतक कुछ-न-कुछ परिश्रम तो किसी-न-किसी को करना ही होगा। और परिश्रम को आफत समझने का सस्कार यदि उसमें दृढ हो गया है, तो उस आफत को किसी दूसरे पर ढकेलने का वह प्रयत्न करता ही रहेगा। इस प्रयत्न का ही नाम वर्ग-निर्माण करने का प्रयत्न है।

और बल के ज़रिये किसी खास व्यवस्था के निर्माण करने मे जिनकी श्रद्धा है, उनके लिए अन्त में जाकर 'डिक्टेटरशिप' तक पहुच जाना अनिवार्य हो जाता है। आज दस व्यक्ति यह मान लेते है कि सारी जनता से वे विशेष समझदार है; अधिकतर लोग तो मूर्ख और जड, वे नही जानते कि किस बात मे उन-

का कल्याण है। और कुछ लोग जो विरोध करते हैं वे या तो स्वार्थी हैं, अथवा मूर्ख और जड़ के अलावा हठी भी। इसलिए जनता के कल्याण के लिए विरोधियों को दबा देना और अपने हाथ में सब अधिकार ले लेना वे चाहते हैं। इस तरह ये दस व्यक्ति अधिकार प्राप्त कर लेते हैं और लोक-कल्याण के उपाय आजमाने बैठते हैं। धीरे-धीरे इन दस की समिति महसूस करती है कि इन सब की भी समझदारी एकसी नहीं है, और किसी एक की राय से ही काम करना आवश्यक है, अधिकांश अधिकार उस सुपुर्द कर देने चाहिए, तथा औरों को उनकी आज्ञाओं को वफादारी से मानना चाहिए। इस तरह 'डिक्टेटरशिप' आ जाती है। और जिस जन-कल्याण के नाम पर इन दस ने और विरोधियों को दबा देना अच्छा समझा, उसी जन-कल्याण के नाम पर इन दस में से उस 'डिक्टेटर' का कोई विरोध करे, तो उसे भी दबा देना आवश्यक मालूम होता है। मतलब यह कि जबतक एक समूह मानव संस्कारों के परिवर्तन के स्थान पर बलात्कार को जन-कल्याण का या अपने उद्देश्य की सिद्धि का अन्तिम उपाय मानता है, तबतक जुल्मी 'डिक्टेटरशिप', और उसके फलस्वरूप एक बलवान दल का प्रभुत्व और अन्त में वर्ग-निर्माण हुए बिना नहीं रहेगा।

यह न माना जाय कि मैं इन विचारों को समाजवाद के मूलभूत सिद्धान्त का विरोध करने के लिए, अथवा वर्त्तमान प्रणाली के समर्थन के लिए प्रकट कर रहा हूँ। मेरा विश्वास हो गया है कि बलात्कार की नींव पर खड़ी हुई किसी भी प्रकार की राज्यप्रणाली से मानव जाति अपने ध्येय के अन्त तक नहीं

पहुँच सकेगी। फिर भी, वर्तमान प्रणाली को तो हटाना ही
होगा। लेकिन इन विचारो को प्रकट करने मे मेरा हेतु यह है कि समाजवादी का खयाल इस बात पर जाय कि उसे विचार में और भी गहरे जाना होगा। ऊपरी परिवर्तनो से—वे क्रान्तिकारी हो तो भी—काम नही चलेगा। यह समस्या केवल किसी विशेष प्रकार की राज्य-प्रणाली या अर्थ-व्यवस्था के कायम कर देने से नही, बल्कि मानव सस्कारो के परिवर्तन से हल होगी। समाजवाद के ध्येय को सफल करने के लिए मनुष्य को व्यक्तिवादी न रह कर समाजधर्मी बनना होगा। पडौसी का चाहे कुछ भी हो, पर अपना विकास, भोग, आराम, यश, मोक्ष आदि सिद्ध कर लेना व्यक्तिधर्म नहीं, बल्कि व्यक्तिवादित्व है। खुद का चाहे कुछ भी हो, पर पडौसी का विकास, भोग, आराम, यश, मोक्ष आदि सिद्ध हो, तथा अपने विकास, भोग, आराम, यश, मोक्ष आदि के प्रयत्न द्वारा पडौसी को लाभ हो, यह समाजवादित्व नही, बल्कि समाज-धर्म है। समाजधर्मी परिश्रम को आफत नही समझता। मेरी दृष्टि में परिश्रम को आफत समझना व्यक्ति-वादित्व है। परिश्रम करने की अशक्ति को आफत और शक्ति को विभूति समझना समाजधर्म है।

अब हम स्वय अपने हृदय से पूछें कि हम क्या चाहते हैं—समाजवाद या समाजधर्म ?

: ३ :

सर्वोदयवाद

[किशोरलाल घ० मशरूवाला]

अगर "वाद" के मानी ये हो कि एक निश्चित ढाँचे में तैयार किया हुआ जीवन का पूरा-पूरा नक्शा, तो गाधीवाद जैसी कोई चीज नही है। अगर "वाद" के मानी ये भी हो कि ऐसा एक पूर्ण शास्त्र, जिसे देखकर जीवन-सम्बन्धी किसी भी मुआमले का जवाब हासिल कर लिया जाय, तो भी कहना होगा कि गाधीवाद जैसी कोई चीज नही है। लेकिन, अगर "वाद" के मानी हो जीवन-व्यवहार के लिए कुछ मोटे नैतिक सिद्धान्तो का स्वीकार, तो मानना होगा कि गाधीवाद नाम की एक चीज और एक व्यवहारमार्ग उत्पन्न हो चुका है। अगर उनके लिए कोई सूचक नाम देना हो तो क्रमश उन्हे सर्वोदयवाद और सत्याग्रह-मार्ग कह सकते हैं।

सच पूछा जाय तो ये सिद्धान्त नये नही है। गाधीजीने ऐसा कोई नीतितत्त्व प्रकट नही किया है जिसका दुनिया मे किसी को कभी परिचय न था। अत्यन्त पुराने जमाने से आज तक इन नैतिक सिद्धान्तो पर मानवजाति का भौतिक और सास्कारिक उत्कर्ष हुआ है, और उसके प्रति हमेशा आदर भी रहा है। हर जमाने मे सैकडो स्त्री-पुरुष अपने निजी जीवन में उनपर चलने के लिए कोशिश करते आये है। गाधीजीने जो विशेषता बताई है वह यह है कि समाज और राष्ट्रीय जीवन में भी बडे पैमाने पर उन सिद्धान्तो का अमल किया जाना चाहिए और किया जा सकता है।

दरहकीकत, न केवल सारी मानवजाति ही, बल्कि सारी ३३
जीवजाति एक ही बडा परिवार है। पर वर्तमान युग के लिए यह एक अति दूर सिद्धान्त होजायगा। इसलिए अगर हम इतना ही मानकर चले कि सिर्फ सारी मानवजाति एक ही बडा परिवार है, तो काफी है। इस परिवार मे न कोई व्यक्ति ऊँचा है, न कोई नीचा है। न कोई जन्मत. विशेषाधिकारी है, न कोई न्यूनाधिकारी। सब समान है और राष्ट्रनिर्माण का आदर्श यह होना चाहिए कि सभी का उत्कर्ष हो।

दुनिया के अलग-अलग भौगोलिक विभाग, मानो, एक ही मकान के भिन्न-भिन्न कमरे है। उनमे अलग-अलग लोगो का ठहरना केवल व्यवस्था है। अगर उस व्यवस्था मे सबकी सुविधा हो तो उसे बिगाडने की जरूरत नही है। लेकिन अगर सर्वोदय-सिद्धि के लिए इस व्यवस्था में फेरफार करने की जरूरत हो तो वैसा करने में कोई नैतिक दोष नही है। अर्थात् सर्वोदय की सिद्धि के लिए मानवो का एक देश से दूसरे देश मे बसना अनधिकार नही है।

मकान में कुछ इन्तजाम ऐसा होता है, जो हरेक कमरे में पाया जाता है, और कुछ बाते ऐसी होती है जो कुछ में होती है, और कुछ में नही होती। इन सब व्यवस्थाओ का हेतु मकान में रहनेवाले सब लोगो का सुख और सुविधा है। कहाँ पर क्या इन्तजाम हो, कितना हो, उनके उपभोग में किस शख्स का कितना अधिकार हो, किसके सिपुर्द कौनसी व्यवस्था हो, आदि बाते सहूलियत की है। इन पर किसी का "यावच्चद्रदिवाकरौ" अधिकार नही हो सकता है। सर्वोदय के लिए इन इन्तजामो मे

जब भी जरूरत हो फेरफार करने में दोष नही है, बल्कि कर्तव्य है।

यही बात पारिवारिक कामो के प्रबध की है। किसको कौनसा काम सौपा जाय, किस तरह किया या कराया जाय, आदि सब बाते सर्वोदयी-व्यवस्था की है। किसीका किसी प्रबध पर कायमी अधिकार नही होसकता।

पारिवारिक इन्तजामो में फेरफार कौन करे? किस तरह करे? परिवार में परस्पर सघर्ष हो तो उसे किस तरह मिटाया जाय?

कभी-कभी परिवार में तीव्र कलह पैदा होते है। यह बात सच है कि उसका नतीजा कभी-कभी अदालत और खूनखराबी तक पहुँच जाता है। जहा इस हद तक मामला नही पहुँचता है, वहाँ भी आपस में कुछ-कुछ असतोष का अनुभव होना, अथवा एकाध जबरदस्त और स्वार्थी व्यक्ति द्वारा अन्य कुटुम्बी-जनो के प्रति अन्यायपूर्ण वर्ताव किया जाना नामुमकिन नही है। ये सब मानव स्वभाव के कम-विकास के चिन्ह है। फिर भी कभी यह नही माना जाता कि खून और अदालत इन सघर्षो को मिटाने के वाजिब उपाय है। और यह भी नही माना जाता कि परिवार में किसी प्रकार का स्थायी वर्गविग्रह होता है।

सस्कारी और समझदार परिवारो में कौटुम्बिक क्लेश, अन्याय आदि जिन मर्यादाओ में रहकर मिटाये जाते है, उन्ही मर्यादाओ में रहते हुए सारी मानवजाति के कलह और अन्याय मिटाना नामुमकिन नही है बल्कि, समझदारी और कर्तव्य है।

अच्छे खानदान के व्यक्तियो के सस्कार किस तरह के होते

है ? उन सबकी यह इच्छा होती है कि हम सब एकदिली और
समानभाव से रहे। हमारे अन्दर जो कुछ मतभेद या असन्तोष हो,
साथ में बैठकर मिटादे। बडे भाई को हमेशा यह चिन्ता रहती
है कि छोटे भाई और उनके लडके-बच्चो को कम-से-कम तक-
लीफ हो। हिन्दू-ससार में तो सैकडो बडे भाई ऐसे पाये जायँगे कि
जिन्होने अपने छोटे भाइयो के उत्कर्ष के लिए अपनी निजी आकाँ-
क्षाओ और सुखो का वर्षों तक बलिदान कर दिया है। अगर कुछ
असन्तोष उत्पन्न हो जाय तो प्राय परिवार के समझदार व्यक्ति
अपने वाजिब हको का भी त्याग करके असन्तोष के बीज को
उखाडने का प्रयत्न करते है। इसीमें खानदानीपन या "शराफत
मानी जाती है। अगर कोई कुटुम्बीजन दुराग्रही होता है, तो
क्या किया जाता है ? उसे समझाते है। बहुत ही महत्त्व की बात
न हो और न समझा सके तो निभा लेते है। महत्व की बात हो
तो सारे परिवार का उस पर नैतिक दबाव डलवाते है। जरूरत
हो तो जिस पर उस शख्स का यकीन हो ऐसे किसी मित्र
द्वारा भी नैतिक दबाव डलवाते है, अथवा उसको पच बनाते है।
उसकी शुद्ध बुद्धि और ऊँची भावनाओ को जागृत करने और उसमें
शर्म पैदा करने का प्रयत्न भी करते है। और अन्त में अनेक
प्रकार से सत्याग्रह का प्रयोग करते है। ये उपाय बडो के सामने
भी चलते है और छोटो के सामने भी। स्त्रीहठ, बालहठ आदि
शब्द प्राय दुराग्रहवाचक समझे जाते है, लेकिन वे सत्याग्रही
प्रयोग भी हो सकते है। मतलब यह है कि परिवार में आग्रह
एक ऐसा शस्त्र है कि जिसका छोटे-बडे व्यक्ति और कभी-कभी
जानवर भी उपयोग कर सकते है। इसके उपयोग में एक ही शर्त

आवश्यक होती है। टूट जाना, पर दब न जाना। यह मुमकिन है कि आग्रही पक्ष खुद को सत्याग्रही माने, और उसकी बात को नामंजूर करनेवाले उसको दुराग्रही। फिर भी समझदार कुटुम्ब मे कभी ऐसा नहीं सोचा जाता कि उसपर जबरदस्ती की जाय, उसे मारा या पीटा जाय, क़ैद किया जाय या उसका सब कुछ छीनकर उसे निकाल दिया जाय। अधिक से अधिक यह सोचा जाता है कि उसे उसका हिस्सा देकर अलग कर दिया जाय। कुरु अथवा मुग़ल वंश में जैसे महत्वाकांक्षी स्वकुल शत्रु पैदा हो चुके हैं, वैसे आदमी मानववंश में बाज दफा ही पैदा हो जाते हैं। वे मानवजाति की मामूली अवस्था के दृष्टान्त नहीं हैं, रोगी अवस्था के हैं। लेकिन ऐसा होने पर भी हत्याकांड का मार्ग ग्रहण करने से आखिर अंजाम में सारे परिवार की बरबादी न हो जाय, तब तक मामला शान्त नहीं होता। अब तक हिंसा का कोई ऐसा मार्ग नहीं पाया गया है जिससे केवल अत्याचारी और अन्यायी व्यक्तियो का ही विनाश हो और न्यायी पक्ष सुरक्षित रहे। हिंसा द्वारा बुराई हटाने के लिए केवल इतना ही काफी नहीं है कि हिंसक के पक्ष में न्याय हो, लेकिन यह भी लाज़िमी है कि उसकी हिंसक शक्ति और योजना भी विशेष ऊँचे ढंग की हो। अगर दुनिया के हत्याकाण्डो का इतिहास हमें कुछ सिखाता है तो कम-से-कम इतना तो साफ बताता ही है कि कभी सिर्फ़ हिंसा के सहारे सत्य और न्याय की जय नहीं हुई है। लेकिन, अगर एक-एक बड़े परिवार का इतिहास खोजा जाय तो अहिंसक उपायो से पारिवारिक कलह सफलतापूर्वक मिटाये जाने के सैकडो उदाहरण मिल जायेंगे। पीढियो तक कलह चलते रहने

के बाद, एकाध महानुभावी स्त्री या पुरुष के असाधारण स्वार्थ-त्याग अथवा बलिदान से, अथवा असाधारण प्रेम के कारण निर्माण हुए विवाह सम्बन्ध से परम्परागत झगडे शात हो जाने के कई उदाहरण अनेक परिवारो के इतिहास में मिल जायँगे।

अगर गाधीवाद मे कोई भारपूर्वक वताया हुआ न्याय है तो यह 'परिवारन्याय' है। इसके अतिरिक्त जो कुछ और विचार-धारायें, योजनायें अथवा कार्यक्रम है, वे सब इसी का खयाल करते है कि देश की मौजूदा हालत में क्या उचित है, शक्य है और व्यवहार्य है।

अगर गाधीवाद मे खद्दर और ग्रामोद्योगो पर वहुत जोर दिया जाता है, या कलो पर कम कृपादृष्टि रक्खी जाती है, या उद्योगद्वारा ही पढाई की बुनियाद डालने का कार्यक्रम पेश किया जाता है, तो उसकी वजह यह नही है कि गाधीवाद को कलो के प्रति—चूंकि वे कल हैं, इसीलिए—ऐतराज है। वल्कि, गाधीजी मानते हैं कि देश की वर्तमान अवस्था में सर्वोदय की ओर जाने के लिए और कोई दूसरी व्यवहार्य योजना नही है। अगर कलम की एक झोक से साम्यवाद की भी स्थापना हो जाय, तो साम्यवादी शासको को भी अनुभव हो जायगा कि करोडो जनो को स्वा-भिमानपूर्वक रोटी प्राप्त कराने के लिए गांधीजी के ही आर्थिक कार्यक्रम को चलाना होगा।

इसी तरह, अगर गाधीजी हरेक शख्स से आठ घटे काम लेकर उसे आठ ही आने मजदूरी देना चाहते है, और यह न्याय वे चर्खा चलानेवाली वुढिया से लेकर वाइसराय तक लगाना

चाहते हैं, तो उसकी वजह यह नहीं है कि मानवजाति के भौतिक सुख का उनको इतना ही खयाल है बल्कि उसका मतलब यह है कि अगर उनके हाथ में देश की पूरी-पूरी बागडोर हो और साथ ही दक्ष और वफादार कार्यकर्ता हों तो निकट भविष्य में कितनी हद तक समाज को पहुँचाने की वे हिम्मत रखते हैं, उसका यह नक़्शा है। यह बात ठीक है कि वे बहु-परिग्रह और बहुभोग के आदर्श में विश्वास नहीं रखते हैं, और अपरिग्रह और अभोग का आदर्श मानते हैं। लेकिन उन्होंने दरिद्रों के सामने कभी भी ये आदर्श नहीं रक्खे। उनके लिए तो उनका सब कार्यक्रम उनके भौतिक सुख बढ़ाने का ही है। यह न भूल जाना चाहिए कि उन्होंने दरिद्रनारायण से एकरूप होने का आदर्श दरिद्रों की सेवा करने के लिए ही सामने रक्खा है, यह नहीं कि दारिद्य को स्वतंत्र-रूप से जीवन सिद्धान्त बताया है। कई बार उन्होंने कहा है कि जिनके पेट में रोटी नहीं है और बदन पर कपड़ा नहीं है, उनके सामने मैं धर्म की बातें कैसे रक्खूँ?

इसी तरह अगर गांधीजी ने यह कहा है कि उनके रामराज्य में राजा, ज़मींदार, धनिक और गरीब सब सुखपूर्वक रहेंगे, तो उसका मतलब यह नहीं है कि उनके अन्तिम आदर्श समाज में एक हाथ पर राजा वग़ैरा आराम और आलस्य में रहनेवाले मनुष्यों का और दूसरे हाथ पर निष्किंचन और सतत परिश्रमी मनुष्यों का रहना आवश्यक है। बल्कि, जिस भूमिका पर आज के हिन्दुस्तान का मानवसमाज खड़ा है, उसमें अगर हम अहिंसा द्वारा सर्वोदय की ओर जाना चाहते हैं, तो उसके लिए प्रथम

व्यवहार्य आदर्श यही हो सकता है कि आज जो अत्यन्त दरिद्र हैं उन्हे शीघ्रातिशीघ्र पेटभर अन्न, शरीरभर कपड़ा, आरोग्य कर मकान और उद्योगपूर्ण देहात प्राप्त कराने का कार्यक्रम सोचें। अगर इतना आदर्श हम सिद्ध कर सके, तो वर्तमान के लिए कम नही है। भले ही तब तक ३५ करोड लोगो में थोडे लोग ऐसे मिल जायँ, जिनके पास सपत्ति के ढेर पाये जाते है और उन्हे बरदाश्त कर लिया जाय। इसके मानी हरगिज़ यह नही है कि राजा, ज़मीदार और धनिको की "यावच्चद्रदिवाकरौ" सस्थायें बनाई रखनें का यह सिद्धान्त है। अखीर मे तो सर्वोदय का सिद्धान्त तो यही हो सकता है कि सबको यथासभव समान बनाया जाय। पर अहिंसक परिवर्तन में यह तरीका नही होता कि सबके मकान समान करने के लिए ऊँचे मकानो को तोडने से शुरूआत की जाय, बल्कि यह कि बहुत से छोटे-छोटे नये मजबूत मकान बनाना आरम्भ कर दिया जाय, और तबतक ऊँचे मकानो से जो कुछ उपयोग लिया जा सके वह लिया जाय।

अगर समाजवाद और सर्वोदयवाद की तुलना करनी हो तो मै यह कहूँगा कि समाजवाद का ध्येय है क्रान्ति, यानी सुसपन्नो पर दरिद्रो का शासनाधिकार और सर्वोदय का ध्येय है हृदयपरिवर्तन यानी सुसपन्नो द्वारा दरिद्रो की सेवा। समाजवाद में क्रान्ति की सिद्धि के लिए दरिद्र सेवा (बल्कि, दरिद्रसपर्क) एक साधन है। सर्वोदय में मानव-सेवा की सिद्धि के लिए क्रान्ति, यानी शासनाधिकार की प्राप्ति, एक साधन होसकता है। समाजवाद की परवा नही कि जिस क्रान्ति देवी की वह बडी दिव्य श्रद्धा से आराधना करता है, उसकी प्राप्ति अहिंसा द्वारा ही हो या

: ४ :

गांधीवाद : समाजवाद

[श्री हरिभाऊ उपाध्याय]

१

यह आजकल ठीक-ठीक जिज्ञासा और चर्चा का विषय बन रहा है। असली काम की बनिस्बत चर्चा का ज्यादा होना हम जैसे गुलाम देशवालो के लिए नागवार होना चाहिए, परन्तु दिमाग को सुलझाने के लिए आखिर चर्चा ही तो एक साधन है, इसलिए मैं इस चर्चा को इतना बुरा भी नही समझता हूँ—बशर्ते कि हम पक्षपात और दुराग्रह को छोडकर दोनो का मर्म समझने की चेष्टा करे। हमे केवल सत्यशोधन की ही दृष्टि और वृत्ति रखनी चाहिए और वह जहाँ हमें ले जाय वहाँ बेखटके चले जाना चाहिए—फिर उसका परिणाम चाहे मार्क्स के खिलाफ निकले, चाहे गाँधीजी के, चाहे वेदो के खिलाफ हो, या कुरान के। जो सत्य का शोधक है वह न कभी आँख मूँदकर बैठ सकता है, न गलती को छिपा सकता है, न किसी के डर या मुलाहजे से अपने भावो और विचारो को प्रकट करने से डर सकता है। समाजवादियो का भी यह दावा है कि वे वैज्ञानिक शोधक है— विज्ञान की खोज में जो-जो बाते उन्हे सत्य मालूम होती जायँगी उन्हे वे बिना चूं-चपड किये स्वीकार करते चले जायँगे। इसी तरह गाँधीवादी तो निर्भ्रान्त रूप से कहता है कि हम सत्याग्रही, सत्य-शोधक है। दोनो का उद्देश सत्य को पाना है, दोनो की वृत्ति एक सच्चे शोधक या साधक की वृत्ति है; हाँ, दोनो की स्पिरिट

में फर्क जरूर है। यह कुछ हद तक स्वभाव से सम्बन्ध रखता है, कुछ हद तक जीवन-सिद्धान्तो से, और कुछ हद तक परिस्थितियो से। यह महत्त्व की बात होते हुए भी यदि उद्देश और वृत्ति हमारी ठीक है और ठीक ही रखने की कोशिश होती रही तो विशेष हानि पहुँचे बिना हम अपने ध्येय तक पहुँच सकते है, इसमें मुझे कोई सन्देह नही है।

२

सबसे पहले हम आदर्श पर विचार करे। गांधीवाद और समाजवाद के सामाजिक आदर्श क्या है? ऐसा कहते है कि समाजवाद ने तो इतना शास्त्रीयरूप अब धारण कर लिया है कि उसका आदर्श बताना आसान है, परन्तु गांधीवाद के लिए यह जरा कठिन बात है। क्योकि एक तो गांधीजी ने इस विषय पर अब तक शास्त्रीय रीति से न कुछ कहा है, न लिखा है। न इस तरह लिखने या कहने की उनकी रीति ही है। वे न अपने को विविध शास्त्रो का पण्डित मानते है और न इसे अपने जीवन में विशेष महत्त्व ही देते है। वे अपने को एक सत्य का शोधक या साधक मानते है और अपने तथा देश के जीवन में सत्य के प्रयोग करते है और अपने अनुभव ज्यों के त्यो लोगो के सामने रखते जाते है। उनका सामाजिक आदर्श है जरूर, क्योकि यदि ऐसा न होता तो भिन्न-भिन्न जीवन-व्यापी विषयो पर उनके सुसगत विचार न प्रकट हुए होते, परन्तु सम्पूर्ण शास्त्र या योजना के रूप में वह अभी सामने नही आ पाया है। इसलिए उसे, मक्खन की तरह, बिलोके निकालना पडता है। अव्वल तो 'गांधीवाद' नाम ही उन्हे खटकने वाला है। उन्होने कितनी ही बार कहा

है कि मुझे न कोई 'वाद' चलाना है, न सम्प्रदाय, मैं तो एक सत्य को जानता हूँ और सत्य की ही बाते लोगो से कहता और करता हूँ। यह कोई नई बात नही है। उनके अनुभव औरो से नये और भिन्न होसकते है, उनके प्रकाश में चीजो का मूल्य भी बदल सकता है, सारे समाज की रचना में उथल-पुथल हो सकता है, परन्तु सत्य की शोध और आराधना मे तो ऐसा होना अवश्यम्भावी है। हर युग में सत्य के साधको के द्वारा ऐसे ही परिणाम निकले है।

परन्तु गांधीजी को पसन्द हो या न हो, हम लोगो ने तो उनके विचारो को 'गांधीवाद' नाम दे ही डाला है। अतएव हमारे लिए यही समझना बाकी रह जाता है कि 'गांधीवाद' है क्या और गांधीवाद किस सामाजिक आदर्श को किस तरह पहुँचना चाहता है।

यहा हमे यह याद रखना चाहिए कि सामाजिक आदर्श का निर्णय करने या उसके पहुँचने का मार्ग निश्चत करने मे ही गाँधीवाद खतम नही हो जाता है। मानवी समाज और भौतिक-जगत् के परे भी गाँधीवाद जाता है। समूचे जगत् के मूल और ध्येय या आदर्श का निर्णय करने के बाद गाँधीवाद उसके प्रकाश में और उससे सुसगत मानव-समाज का निर्माण करना चाहता है। उसे ऊपर-ऊपर विचार कर लेने से सन्तोष नही होता—वह ठेठ-तह मे जाकर निर्णय करना चाहता है। आँखो को जो-कुछ दिखाई देता है उतना ही उसके मनन या शोध का विषय नही है, बल्कि बुद्धि, मन, कल्पना, वेदना, अनुभव, जहाँ तक पहुँच सकते है या इनसे भी बडी शक्ति अगर कोई हो तो उसकी भी पहुँच जहाँ तक हो सकती है वहाँ तक पहुँचकर वह अपना फैसला

४४ देना और अपनी योजना बनाना चाहता है। यदि हम इस बात को न समझेंगे या भूल जायँगे तो गाँधीवाद के साथ न्याय न कर सकेंगे। तो पहले हम इसीको क्यों न समझ ले ?

गाँधीजी का कहना है कि सारी दुनिया का मूल स्रोत सत्य है, दुनिया के अणु-अणु में, इन भिन्न-भिन्न रूपों और आकार-प्रकारों में वही सत्य पिरोया हुआ है। इसका यह अर्थ हुआ कि हम सब जीव-मात्र, मनुष्य-मात्र एक ही सत्य के अंश है, असल में एक रूप है, हम सबका नाता आत्मीयता का है। जब हम मनुष्य ही नहीं, जीव-मात्र, भूत-मात्र, आत्मीय है तो फिर हमारा पारस्परिक सम्बन्ध प्रेम का, सहयोग का, सहिष्णुता का और उदारता का ही हो सकता है, न कि द्वेष का, झगडे का, मारकाट का, या चढा-ऊपरी का। ये दो गाँधीवाद के ध्रुव सत्य है जिन्हे गाँधीजी क्रमश सत्य और अहिंसा कहा करते है। यही गाँधीवाद के पथ-दर्शक सिद्धान्त है जिनको मिलाकर गाँधीजी ने एक सुन्दर और तेजस्वी नाम दे दिया है *सत्याग्रह*। वैसे यह नाम साधन या वृत्ति-सूचक मालूम होता है परन्तु इसका अर्थ है—सत्य की शोध के लिए सत्य का आग्रह। अहिंसा इसमे, दूध में सफेदी की तरह, मिली या छिपी हुई है, क्योकि सब अपने-अपने सत्य का आग्रह तभी अच्छी तरह रख सकते है जब एक-दूसरे के प्रति सहनशील बनकर रहे और इसीका नाम अहिंसा है।

इन दोनो के दो-दो रूप है, एक मूलस्वरूप और दूसरा दृश्य स्वरूप। सत्य मूलरूप में एक तत्त्व है और दृश्यरूप में यह सारा प्रकट विश्व है। अहिंसा मूलरूप में प्रेम-रूपिणी आत्मीयता है और प्रत्यक्ष रूप में जीवन के तमाम सरस और मृदुल गुणों का

समुच्चय है। इस तरह सारा जगत् सत्य से ओतप्रोत और अहिंसा से सुखदायी एव प्रगतिशील है। इस सत्य पर दृढ रहना, वह जिस समय जैसा अनुभव में आवे उस समय उसी पर दृढ रहना, मन को राग और द्वेष से हटाकर आगे सत्य को खोजने और पाने की वृत्ति रखना और जो हमसे मत-भेद रखते है उनके प्रति भी सहिष्णुता और प्रेम का व्यवहार करना, इसका नाम गाँधीजी ने सत्याग्रह रखा है। यदि इस मूल वात को हमने अच्छी तरह समझ लिया तो फिर गाँधीवाद के समाज का आदर्श समझने में न तो भूल होगी और न कठिनाई ही।

३

अब जब सारे विश्व मे सबसे हमारी आत्मीयता है और हमें सबके साथ प्रेम और मिठास से रहना है तो यही आदर्श, वृत्ति और व्यवहार हमारा सारे मानव-समाज के प्रति होगा, यह अलहदा कहने की जरूरत नही है। जब हम सब आत्मीय है तो हम एक-दूसरे का भला, उन्नति, सुख ही चाह सकते है, बुरा और बिगाड नही। तो सारे मानव-समाज का उदय चाहना—सर्वोदय—गाँधीजी का सामाजिक आदर्श हुआ। इसका यह अर्थ हुआ कि समाज-रचना और समाज-व्यवस्था इस तरह की हो कि जिसमें प्रत्येक मनुष्य—स्त्री, पुरुष, बालक, बालिका, युवा, वृद्ध, सबके समानरूप से उत्कर्ष की पूरी सुविधा हो। उसमें न ऊँच-नीच का, न छोटे-बडे का, न जात-पाँत का, न अमीर-गरीब का, कोई भेद या लिहाज रहे। समान सुविधा और समान अवसर खुले रहने के बाद अपनी योग्यता, गुण, सेवा आदि के द्वारा कोई व्यक्ति यदि अपने-आप आदरास्पद होजाता है और लोग श्रद्धा से

उसे बड़ा मानने लगें तो यह दूसरी बात है, परन्तु समाज-व्यवस्था में ऐसी कोई बात न रहेगी जिसके कारण किसी के सर्वांगीण विकास में रुकावट रहे।

परन्तु यह तो एक गोल-मोल बात हुई। 'सर्वोदय' में मनुष्य के विकास के लिए किन-किन आवश्यक या अनिवार्य वस्तुओं, भावों, नियमों, या सुविधाओं का समावेश होता है, यह जानना जरूरी है।

मैं समझता हूँ 'सर्वोदय' में इतनी बातें आवश्यक रूप से आती हैं—(१) स्वास्थ्यकर और पुष्टिवर्द्धक यथेष्ट भोजन, (२) साफ और खुली हवा, (३) निर्मल और निरोगी पानी (४) शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक कपड़े, (५) खुला, हवादार और आरोग्य-वर्धक घर, (६) शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा और रोगनिवारण की सुविधा, (७) मनोरंजन और ज्ञानवृद्धि के साधन (८) और इस तरह के समाज-व्यवस्था के नियम जिनसे कोई किसी को न दबा सके, न कोई किसीसे अनुचित रूप से दब सके, न कोई बेकार रह सके, न कोई बिना मेहनत के धनसंग्रह कर सके। अर्थात् स्वस्थ, तेजस्वी, स्वावलम्बी, परस्पर सहयोगी, आत्म-रक्षा-क्षम, सुसंस्कारी, श्रमशील, निर्भय और प्रसन्न मानव-समाज का निर्माण 'सर्वोदय' का हेतु है। यदि ऐसा मनुष्य-समाज कभी बन सका तो स्वभावतः ही उसमें किसी प्रकार की सरकार की—दण्डभय से नियंत्रण करने वाली किसी शासन-संस्था की—जरूरत न रहेगी, अधिक-से-अधिक एक व्यवस्थापक मण्डल काफी होगा, जो समाज पर हुकूमत नहीं करेगा, बल्कि समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहेगा। इसमें यदि

समाज-कार्य की सुविधा के लिए कुछ विभाग अलहदा-अलहदा
रखना पडे तो वे आजकल के अर्थ म जातियाँ या श्रेणियाँ (Classes) न रहेगी, बल्कि भिन्न-भिन्न विभागो के काम की जिम्मेदारी लेनेवाले कार्यकर्त्ताओ का ,समूह होगा। जीवन की उन्नति के लिए आवश्यक सुविधायें जहाँ सबको समान रूप से या यथेष्ट रूप से मिलेगी वहाँ प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष को उस सुविधा या साधन-सामग्री के पैदा करने या बनाने में आवश्यक सहयोग या श्रमयोग भी देना पडेगा।

मै समझता हूँ 'सर्वोदय' की कल्पना ठीक-ठीक आने के लिए यह रूप-रेखा अभी काफी होगी। शेष विस्तार की बातो को हमें इसी 'सर्वोदय' के प्रकाश में देखना और समझना होगा।

४

अब हमें समाजवादियो के सामाजिक आदर्श को समझना चाहिए। वे उसे 'वर्गहीन समाज' कहते है। आज समाज में धनी और गरीब, एक श्रम-जीवी और दूसरा परोपजीवी, एक पीड़क दूसरा पीडित, एक शोषक, दूसरा शोषित-ऐसे दो वर्ग परस्पर विपरीत स्वार्थ रखनेवाले बन गये है, वे न रहे—सिर्फ एक ही काम करनेवालो का समाज बन जाय। समाज-व्यवस्था ऐसी हो जिसमे कोई किसी का शोषण न कर सके और कोई किसीके साथ जुल्म-ज्यादती, मारकाट याने हिंसा न कर सके। ऐसे समाज के लिए स्वभावत ही किसी शासन-सस्था की जरूरत न रहेगी।

अब मानव-समाज की इस आदर्श कल्पना से जहाँतक ताल्लुक है, मै समझता हूँ दोनो की भाषाओ में भले ही अन्तर हो, बात दोनो एक ही कहते है। समाजवादी के सामने चूँकि गरीबो का

पीडन और शोषण बहुत अधिक है और उसे मिटाने के लिए वह बेजार है, इसलिए उसने तदनुकूल भाषा बनाली है। वह यह समझता है कि समाज में आर्थिक व्यवस्था स्वाभाविक और न्याया-नुकूल न होने से गरीब पिसे जा रहे है और अमीर गुलछर्रे उडाते है, इसलिए वह इस बात पर जोर देता है कि आर्थिक-व्यवस्था ठीक होनी चाहिए और जो आर्थिक विधान वह उपयुक्त समझता है वह इस प्रकार का है कि जिससे सारे समाज का ढाचा ही बदल देना पडेगा—इसलिए वह सामाजिक क्रान्ति की बात करके सामाजिक आदर्श को 'वर्गहीन समाज' नाम देता है। इससे भिन्न गांधीजी सारे जगत् के रहस्य का पता पाते है और उसको सामने रखकर जगत् के और मानव-समाज के दु खों का कारण ढूंढते है और उनका स्थायी इलाज सुझाते है, इसलिए उनकी भाषा दूसरे प्रकार की है। उनकी भाषा के पीछे एक पूरा दर्शन है। वहां समाजवादी की और खासकर हिन्दुस्तानी समाजवादी की भाषा के पीछे शोषण को बन्द करने की व्याकुलता है। इसके सिवा मुझे कोई कहने लायक अन्तर इन दोनो आदर्शो में नही दिखाई देता। यदि यह कहें तो हर्ज न होगा कि समाजवादी अंग की बात करता है और गांधीवाद पूर्ण की। समाजवाद की मंजिल तय होने पर भी गांधीवाद का बहुत काम बाकी बच रहता है। निश्चय ही समाजवादियो का यह दावा नहीं है कि उनके आदर्श का पूरा चित्र वे बना पाये है, परन्तु जितना वे बना पाये है उसीको सामने रखकर हमें विचार किये बिना गति नही है।

५

यह तो हुई दोनो के आदर्शों की बात। परन्तु आदर्शों के

ज्ञान से ही काम नही चल सकता। उतना ही महत्वपूर्ण और
उससे अधिक जटिल प्रश्न यह है कि उस आदर्श को प्राप्त कैसे किया जाय? यहाँ जाकर दोनो में मतभेद दिखाई देता है। समाजवादी की निगाह तो शोषण बन्द करने पर है, और गाँधीवाद की नजर सबकी आत्मीयता की रक्षा—सामञ्जस्य—पर है। इसलिए गाँधीवाद को यह भी सोचना और देखना पडता है कि शोषण तो ज़रूर मिटे, परन्तु कही वह इस तरह से तो नही मिट रहा है कि सर्वोदय—आत्मीयता के मूल को धक्का पहुँच जाय। हाथ यदि सड गया है, तो शौक से काट डालिए, किन्तु यह तो देख लीजिए कि कही बीमार का प्राण न निकल जाय या उसके किसी दूसरे अग को इतना धक्का न लग जाय जिससे सारा शरीर धीरे-धीरे बिगड जाय। दुनिया के समाजवादी तो कहते ही है, कि खूनखराबी करके भी क्रान्ति कर दो और सत्ता हाथ में लेकर इस शोषण का जल्दी-से-जल्दी अन्त कर दो, परन्तु गाँधीवाद कहता है— नही, ऐसा करोगे तो आज शोषण का अन्त होता हुआ भले ही दिखाई दे, इस खून-खराबी से जो प्रतिहिसा की भावनायें प्रबल होगी वे शक्तियाँ मौका पाते ही तुम्हारी व्यवस्था में दखल देकर तुम्हारे बनाये ढाँचे को बिगाड देंगी। इसके अलावा वह सर्वोदय के आदर्श और आत्मीयता की वृत्ति के विपरीत है। एक आत्मीय दूसरे को सुधारेगा, उसका नाश नही चाहेगा। अब चूँकि समाजवादी के सामने सर्वोदय या आत्मीयता नही है, स्वभावत. उसकी समझ में सहसा नही आता कि गाँधीजी क्या कहते है और क्या चाहते है? यद्यपि समाजवादी अपने आदर्श-समाज में हिसा को बिलकुल स्थान नही देता है,

५० तथापि आरम्भ में और सन्धिकाल में वह हिंसा को आवश्यक मानता है, किन्तु गांधीवाद मे शुरू से अखीर तक हिंसा त्याज्य है। हाँ, हिन्दुस्तानी समाजवादी जरूर क्रान्ति-काल और सधिकाल दोनो में हिंसा का आश्रय लेना नहीं चाहता है, किन्तु वह तो इसलिए कि हिन्दुस्तान में हिंसा की गुंजाइश आगे भी बहुत काल तक उन्हे नही दिखाई देती है। इसमे कोई शक नही कि९९फीसदी कॉंग्रेसियो ने भी अहिंसा को मजबूरी से ही अपनाया है, किन्तु अब कॉंग्रेसी और कांग्रेस समाजवादी दोनो में ऐसे विचारशील लोग बढते जा रहे हैं जिनकी बुद्धि और संस्कृति दोनो ने हिंसा की अपेक्षा, एक कारगर बल के रूप में, अहिंसा की श्रेष्ठता को मान लिया है। यही नही, भारत की इस बेबसी और गुलामी ने भारत को अहिंसा देकर उसका ही नही, सारे जगत् का उपकार किया है और दूसरे देशो के लोगो को भी 'अहिंसा' के रूप में एक नया और हिंसा से अच्छा बल मिला है, जिसका प्रमाण हैं कई देशो में रक्तपात-हीन क्रान्तियो का हो जाना। प्राय सभी देशो के विचारवान् लोगो की बुद्धि ने अहिंसा की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया है, राजनीतिज्ञो को भी 'अहिंसा' ने आकर्षित किया है; किन्तु कोई उदाहरण सामने न होने से उन्हे इसके आज ही व्यवहारोपयोगी होने में सन्देह है।

सो सबसे बड़ा मतभेद जो साधन के सम्बन्ध में गांधीवाद और समाजवाद में है वह तो है क्रान्तिकाल और सन्धिकाल में हिंसा के स्थान के सम्बन्ध में। परन्तु हिन्दुस्तानी समाजवादी के बारे में यह बात नही कही जासकती। इसलिए यो आज यह भेद भी व्याव-हारिक राजनीति का प्रश्न नही रह गया है। चाहे किसीने धर्म

के रूप मे अहिंसा को अपनाया हो, चाहे किसीने व्यवहार-नीति
के रूप मे। अब भारत मे हिंसा-अहिंसा का प्रश्न तभी उग्र और विकट रूप धारण कर सकता है जब किसी न किसी तरह सफलतापूर्वक हिंसा-प्रयोग की सम्भावना अधिकाश राजनैतिक पुरुषो को दिखाई दे जाय। तबतक यह हमारे स्वभाव, वृत्ति या स्पिरिट के अनुसार हमारे कार्यों, दिलो और पारस्परिक सम्बन्धो पर थोडा-बहुत असर भले ही डालता रहे, इससे आपस मे किसी भारी सघर्ष, फूट या झगडे की सम्भावना नही है।

हाँ, आगे चलकर, और खासकर स्वराज्य-सत्ता हाथ में आजाने पर, इस मतभेद का महत्व बढ सकता है। परन्तु यह भी इस बात पर अवलम्बित रहेगा कि हमें स्वराज्य किस साधन से मिला है। यदि हिंसात्मक साधनो से प्राप्त हुआ है तो फिर अहिंसा तो राजनीति में उसके पहले ही मर चुकी होगी, इसलिए, उसके बाद तुरन्त ही उसके जी उठने की कल्पना करना फजूल है, परन्तु यदि अहिंसात्मक साधनो से हुई है और मुझे विश्वास है कि अहिंसात्मक-क्रान्ति से ही हमें स्वराज्य मिल जायगा तो फिर अहिंसावृत्ति की ही प्रधानता हमारे स्वराज्य के विधान मे रहेगी, यह निर्विवाद है। इसलिए उसमें प्रत्यक्ष और शारीरिक हिंसा का तो सवाल ही न उठेगा, हां, कानून द्वारा भी किसी वर्ग-विशेष को दबाया जाय या नही, यह प्रश्न अलबत्ते विवादग्रस्त हो सकता है। समाजवादी तो कहते ही है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार किसी को न रहना चाहिए। इधर गाँधीजी भी अपरिग्रह के पुजारी है। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति तो ठीक, अनावश्यक वस्तुओ के सग्रह को भी चोरी मानते है। तो दोनो इस बात पर

तो सहमत ही है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे, परन्तु यदि लोग हमारे कहने से और उपदेश से न छोड़ें तो ? तो समाजवादी कहेगा, कानून बना दो, जिससे ऐसा अधिकार किसी को न रहे। अब यदि बहुमत समाजवादियो का हुआ तो जबतक लोकतन्त्री-शासनप्रथा रहेगी तबतक उन्हे ऐसा कानून या विधान बनाने से कैसे रोका जा सकता है ? परन्तु प्रश्न तो यह है कि गांधीवाद ऐसे अवसर पर क्या सलाह देगा ? बहुमत का अल्पमत पर यह दबाव हिंसा है या नही और यदि है तो क्या किया जाय ? खेती आदि में जैसी अपरिहार्य हिंसा होती है, वैसी ही इसे मानले या दूसरा अहिंसक उपाय बताया जा सकता है। मै समझता हूँ समय आने पर गांधीवाद कोई अहिंसक उपाय अवश्य ढूंढ लेगा। यह भी सम्भव है कि उस समय सारे वातावरण के अहिंसा प्रधान हो जाने का यह असर हो कि सम्पत्तिवानों का हृदय इतना ऊँचा उठ जाय और वे ऐसे किसी विधान का विरोध न करें। सम्भव है, गांधीजी की ट्रस्टी बनने की सलाह उन्हें और तत्कालीन समाज को पसन्द आजाय। किन्तु उस समय क्या होगा और कौन क्या करेगा, इसका निर्णय आज करना कठिन है।

६

हिंसा-अहिंसा के प्रश्न का निपटारा इस तरह होजाने के बाद अब दूसरा मतभेद का सवाल है मशीनरी का। समाजवादी उद्योग-वाद में विश्वास रखता है, और गांधीवाद गृह-उद्योगों को मानता है। एक कहता है बडे-बड़े कल-कारखानो के बिना समाज का काम न चलेगा। कल या कारखाने में कोई दोष नही है, जो-कुछ खराबी है वह तो यह कि उत्पादन के साधनो पर व्यक्तियो का

स्वामित्व है। उसके एवज मे यदि राज्य या समाज के हाथ मे
उसका स्वामित्व दे दिया जाय तो बडे कल-कारखानो के रहते हुए भी कोई किसी का शोषण न कर सकेगा। किन्तु गाँधीवादी इसके विपरीत कहता है कि व्यक्तिगत स्वामित्व ही अकेला दोषी नही है, मशीनरी खुद भी, कारखाना खुद भी, एक हद तक दोषी है और जिस हद तक वे दोषी है उस हद तक उनमे या उनकी प्रणाली में भी सुधार करना होगा। यह मतभेद इस बात से पैदा होता है कि आदर्श समाज में हम मनुष्य को कैसा देखना चाहते है। पश्चिम के लोगो की तरह भोग-प्रधान या पूर्व की सस्कृति के अनुसार सयम-प्रधान। असल में यह प्रश्न सस्कृति से सवध रखता है और संस्कृतियाँ वरसो मे वनती और वरसो में विगडती है। पूर्वी सस्कृति मे सयम जवरदस्ती नही आ घुसा है। हजारो वर्षो के भोगमय जीवन के वाद अनुभव से उसकी जड जमी है और उसे हमें खोदने का उद्योग तवतक न करना चाहिए जवतक हमने सयम को बिल्कुल निकम्मा और भोग को सब तरह अच्छा न पा लिया हो।

हाँ, इसमें गाँधीवाद निसन्देह सयमवादी है और समाजवाद का झुकाव भोगवाद की तरफ दीखता है। परन्तु हिन्दुस्तानी समाजवाद पश्चिम की तरह ही भोगवाद की तरफ बढेगा इसमें मुझे सन्देह है। क्योंकि आखिर वह भी तो उसी पूर्वी सस्कृति की उपज है। और यह भोग और सयम का प्रश्न एक समाजवादी के नजदीक इतने महत्व का या तीव्र नही है जितना कि शोषण और पोषण का है और सयम या भोग का प्रश्न भी तभी तीव्रता से सामने आवेगा जब शोषण को मिटाने का सामर्थ्य हमारे हाथ

मे आजावेगा। हिन्दुस्तानी समाजवादी शायद भोग को उतना न चाहेगा जितना वह जनता के जीवन-स्टेंडर्ड को ऊँचा उठाना चाहेगा। परन्तु इसमें तो गाधीवाद का उससे मतभेद नही है। गाँधीवाद भी यह तो मानता है कि जनता का वर्तमान स्टैण्डर्ड वह नही है जो एक आदर्श मनुष्य का होना चाहिए। परन्तु उसका कहना है कि जबतक स्टैण्डर्ड बढाने की सत्ता और अनुकूलता हमारे हाथ में न हो तबतक जनता मे उच्च-स्टैण्डर्ड की भूख पैदा करना कार्य-साधक न होगा। बल्कि कार्यकर्ताओ को अपना स्टैण्डर्ड घटाकर उनमे घुल-मिल जाना चाहिए और हमें उन्हे अपने से पृथक् और बडा न अनुभव होने देना चाहिए। सच्ची समानता का भाव तो यह है और यदि हम उनके दु खो से पीडित है तो हमारी व्यावहारिक सहानुभूति यही हो सकती है कि हम अपना रहन-सहन भरसक उनसे मिलता-जुलता रखे। इसके विपरीत समाजवादी की दलील है कि मेरे अकेले के सब कुछ छोड देने से सारा समाज कैसे बदल जायगा? जब सारा समाज एक-सा हो जायगा तब मै भी अपनी सम्पत्ति छोड दूँगा। गाँधीवाद कहता है पहले उनमे मिलो फिर उनके साथ सब मिलकर, ऊँचे उठो। यह एक सीधी और मोटी-सी बात है कि यदि मै किसी बात को ठीक मानता हूँ तो मेरे जीवन और आचरण से भी वह बोलनी चाहिए—नहीं तो मेरी बात की सच्चाई किसीको कैसे जँचेगी?

इस तरह मशीन का प्रश्न असल मे भोगवाद की प्रवृत्ति या जीवन के स्टैण्डर्ड से सम्बन्ध रखता है। और इसका फैसला मनुष्य अपने-अपने संस्कारो के अनुसार ही करेंगे। समष्टिवादी होते हुए

भी भारत में क्या भोगी लोग नहीं है ? जो उद्योगवाद चाहते
है उनका कहना यह है कि इससे मनुष्य की सुख-सुविधा की वृद्धि होगी। गांधीवाद कहता है कि बेकारी, परावलम्बिता, शोषण, कई बीमारियाँ, नैतिक-पतन, इनका यह जन्मदाता या पोषक है। हाथ से काम करनेवाला मनुष्य स्वस्थ, स्वावलम्बी, निर्भय और स्वतन्त्र रहता है। अधिक बौद्धिक या शारीरिक सुख-विलास से मनुष्य बोदा बन जाता है और आदर्श मनुष्य-समाज का मनुष्य सत्ववान् सबसे पहले होना चाहिए। गांधीवाद यह नही कहता कि मशीन-मात्र बुरी है, वह सिर्फ इतना ही कहता है कि भाफ से चलनेवाले बडे-बडे यन्त्र जिनसे कई लोगो का काम एक आदमी करके कइयो को बेकार बना देता है, और जिनके कारण मजदूर एक जगह एकत्र होकर कई बुराइयो और व्यसनो में फँसकर अपना जीवननाश करते है, समाज के लिए हानिकर है। मनुष्य को बेकार बनाकर और मानव-शक्ति को बेकार पडी रहने देकर यन्त्रो से काम लेना आर्थिक दृष्टि से भी उलटी रीति है। इसलिए असल में होना यह चाहिए कि पहले समाज के सारे मनुष्यो से काम लो, फिर जो काम या चीजें ऐसी बच रहे जो समाज की आवश्यकता के लिए बहुत जरूरी हो, पर जिन्हे वे न बना सके या उनकी शक्ति के बाहर हो, वे शौक से यन्त्रो से बनाई जावे और उनके कारखाने खोले जावे।

किन्तु यह मौलिक-सा मतभेद रहते हुए भी हिन्दुस्तानी समाजवादी मानता है कि ग्राम-उद्योगो को भारत की आर्थिक व्यवस्था में काफी स्थान है, इधर व्यावहारिक गांधीवादी भी

यह समझता है कि आज के आज बड़े-बड़े कल-कारखाने और उनकी प्रथा मिट जानेवाली नहीं है, इसलिए दोनो में इस कारण से तीव्र संघर्ष होने की संभावना मुझे नही दिखाई देती है। कम-से-कम जबतक स्वराज्य नही आजाता है तबतक यह मतभेद भी समझौता करता रहेगा।

यह तो गांधीवाद और समाजवाद दोनों मानते हैं कि आदर्श-समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे। परन्तु इसके व्यावहारिकरूप में दोनो का मतभेद है। समाजवाद चाहता है कि कानून बनाकर इसे बिल्कुल नाजायज करार दे दिया जाय। गांधीवाद कहता है कि व्यक्ति सम्पत्ति का संग्रह भले करे, पर वह उसका स्वामी न बने, ट्रस्टी बनकर रहे। अर्थात् वह अपने उपभोग की सामग्री उसे न समझे, समाज के उपयोग में लाने की चीज़ समझे। गांधीजी प्राय भीतर से सुधार करने-कराने के पक्ष में रहते हैं, ऊपर से—कानून द्वारा—दबाकर कराना उन्हे स्थायी उपाय नहीं मालूम होता। भीतर से सुधार कराने के मानी होते हैं खुद मनुष्य के ही मन मे अच्छा बनने की तीव्रता पैदा कर देना। अपने आचरण, उपदेश और संगी-साथियो के जीवन से ऐसा वातावरण बना देना कि जिससे मनुष्य अपने-आप अच्छा बनने लगे। शुद्ध स्वाभाविक और अहिंसामय तरीक़ा यही हो सकता है। बल्कि इसके विपरीत क़ानून बनाने से मनुष्य स्वेच्छा से उसका लाभ और उपयोग समझकर उसे नही ग्रहण करता मजबूरी मे दबकर ग्रहण करता है और उसके दिल में कसक रह जाती है जो उसे अन्त करण से वफादार नहीं रहने देती। अत. यदि आरम्भ में हमें कानून का आश्रय लेना ही पड़े तो ज्यो-

ज्यो हम सन्धिकाल को पार करते जायँ त्यो-त्यो हमें भीतरी सुधार पर अधिक और बाहरी दबाव पर कम जोर देते रहना होगा।

इसका मजाक-सा उडाते हुए बाज-बाज लोग पूछ बैठते हैं, गाँधीजी के इस सिद्धान्त के अनुसार उनके कितने साथियो ने अपनी सम्पत्ति खुद छोड दी है और अपने को उसका ट्रस्टी बना लिया है? यह सवाल पूछकर वे 'ट्रस्टीपन के विचार की असम्भवता बताना चाहते हैं। इसका उत्तर तो यही है कि किसी चीज़ को सम्भव या असम्भव बताना या उसका मखौल उडाना कोई दलील नही हुआ करती। उपयोगिता या अनुपयोगिता, हानि या लाभ बताना चाहिए। कितनो ने इसको अपनाया इसके जवाब भिन्न-भिन्न अवस्थाओ में भिन्न-भिन्न होगे। १९१८ में गाँधीजी से कोई पूछता कि खादी पहनेवाले और कातनेवाले तुम्हारे कितने साथी हैं तो इसका जवाब जरूर ही आज से भिन्न मिलता। गाधीजी के तो बहुतेरे साथी अपरिग्रही है, जिन्होने अपने धन-दौलत और जायदाद को लात मार दी है और ऐसे धनी अनुयायी भी हैं जो ट्रस्टी की भावना से ही अपनी सम्पत्ति का उपयोग समाज और देश की सेवा में कर रहे हैं। परन्तु यदि ऐसा कोई एक भी साथी न हो तो इससे क्या मूल सिद्धान्त की उपयोगिता को आँच आ सकती है?

फिर दबाव से काम लेने का पक्षपाती अक्सर वही देखा जाता है जो खुद दबाव में आकर ही अधिक काम करता हो, या जिसमे अधिक धीरज, सहनशक्ति, मिठास और क्षमाशीलता न हो, या जिसे हुकूमत से ही काम कराने की आदत हो। किन्तु ऐसे व्यक्ति या समुदाय को यह मानने की भूल न करनी चहिए

कि उनकी यह वृत्ति अहिंसा के अनुकूल है। यदि हमें आदर्श समाज में से हिंसा को सचमुच हटा देना है, नहीं मैं तो यह भी कहूँगा कि हमें सचमुच किसी ऐसे आदर्श-समाज की कल्पना से प्रेम है जिसमें शासन-सस्था जैसी चीज न रहे, जिसमें सचमुच जनता सुखी, स्वाधीन और उन्नतिशील रहे, तो हमें बाहरी दवाव की अपेक्षा भीतरी सुधार की तरफ ही ज्यादा ध्यान दिये विना गति नही है।

परन्तु सवाल यह किया जाता है कि ट्रस्टी बनने के मानी आखिर क्या है? सम्पत्ति पर या उत्पादन के साधन पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अधिकार तो क़ायम रहा ही। और ऐसा अधिकार कायम रखने की भी आखिर क्या जरूरत है? कानूनन् यह अधिकार छीनना यदि दवाव है और दवाव हिंसा है इसलिए त्याज्य है, और दूसरी तरफ आपके समझाने-वुझाने, उपदेश और उदाहरण से भी लोग न मानें तो उन्हे मनवाने का क्या उपाय आपके पास है? अधिकार उन्हे दिया भी जाय तो कितना?

मैंने जहाँतक समझा है, ट्रस्टी बनने की सूचना 'वर्गहीन समाज' का आवश्यक फलितार्थ है। वर्गहीन समाज में सरकार तो रहेगी नही, परन्तु जमीन, छोटे-बडे कारखाने, मकान, कला-भवन, आदि तो रहेगे ही। आखिर किसी-न-किसी के चार्ज में इनके रहे विना गति नही है। तो जिनके चार्ज में ये रहेंगे उनका इनसे क्या सम्बन्ध रहेगा? किसीके दवाव से तो कोई उनका चार्ज लेगा नही, क्योंकि दवाव रखनेवाली सरकार तो रहेगी नही। अपनी खुशी से ही लोग उनको अपने चार्ज में

रक्खेंगे। वे क्यो रक्खेंगे—या तो मुनाफा उठाने के लिए या
समाज की सेवा के लिए। उनकी सम्भाल रखने में जितना खर्च होगा और सम्भाल रखनेवाले के निर्वाह के लिए जितना आवश्यक होगा उतना धन तो उसे मिलना जरूरी है। अब सरकार के अभाव में उन्हे वेतन देनेवाला तो कोई रहेगा नही तव मुनाफे के ही रूप में वह खर्च वह लेगा। हाँ, शोषण उसमें न रहेगा। इस मुनाफे पर तो ऐतराज़ किया ही कैसे जा सकता है ? आवश्यकता से अधिक मुनाफा न लेना, यह उसकी समाज-सेवा की वृत्ति हुई। अब या तो वह इन चीजो का मालिक वनकर रह सकता है या समाज की तरफ से उनका ट्रस्टी वनकर। मालिक वनाना आप चाहते नही, तो फिर ट्रस्टी वने विना दूसरा क्या रास्ता है ? ट्रस्टी के माने मालिक नही, समाज की तरफ से उस वस्तु का चौकीदार। मालिक तो सारा समाज है या वह व्यक्ति मालिक वनने का अधिकारी समझा जासकता है जिसके परिश्रम ने उस वस्तु को खडा किया है। यदि मालिकाना हक रहा भी तो वह नाम-मात्र का रहेगा, स्पिरिट तो ट्रस्टी की ही रह सकती है। यह न भूलिए कि 'वर्गहीन समाज' उसी दशा में सम्भव हो सकता है जव मनुष्य आज से वहुत ऊँचा उठ गया होगा करीव-करीव वह देव वन गया होगा। यदि आप वर्गहीन समाज को सम्भव मानते हैं तो फिर उस समाज के मनुष्य की ईमानदारी पर आपको इतना विश्वास भी रखना होगा, इतने ईमानदार मनुष्य की ही कल्पना करनी होगी जो या तो मालिक रहते हुए भी ट्रस्टी की स्पिरिट रक्खेगा या मालिक होना न चाहकर ट्रस्टी और समाज का एक सेवक ही रहेगा। जवतक आप किसी सरकार की

आवश्यकता अनुभव करते है तवतक न तो 'वर्गहीन समाज' की स्थिति की ही कल्पना कीजिए, न शोपण वन्द होने की। आप यह क्यो मान लेते है कि सन्धि-काल मे जवतक सरकार रहेगी तवतक उसके सूत्र सञ्चालक या शासक तो देवता लोग होगे और दूसरे दानव या वेईमान ? आप इस वात को क्यो आसानी से भुला देते है कि ज्यो-ज्यो राज्य-सत्ता केन्द्रित होती गई है त्यो-त्यो शोपण अधिक होता चला गया है ? जिसे हमारे साम्यवादी भाई 'प्रिमिटिव कम्यूनिज्म' कहते है उस समय शोपण था ? वह कव आया और कैसे-कैसे वढता गया ? तो आप इसी नतीजे पर पहुँचेगे कि उसका कारण सत्ता का केन्द्रीकरण अर्थात् साम्राज्य-वाद है। आपने यह कैसे मान लिया कि किसानो और मजदूरो के प्रतिनिधि जालिम या शोपक न वन जायँगे ? जिन्हे हम राजा, धनी, जमीदार और शोपक या पीडक वर्ग कहते है ये कहाँ से आये है—इन्ही किसानो और मजदूरो मे से ही तो धीरे-धीरे ये वर्ग निर्माण हुए है और जव इनके हाथ में सारी सत्ता आगई तो यही शोपक और पीडक वन गये। इसका असली उपाय यह नही है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहे, या उत्पादन के साधनो पर व्यक्तियो का स्वमित्व न रहे, वल्कि यह है कि समाज में शासन और धनोपार्जन की सत्ता केन्द्रीय शक्ति के हाथ में न रहे और यदि रही तो उसके सदुपयोग और दुरुपयोग का आधार वहुत-कुछ उस व्यक्ति की सज्जनता या दुर्जनता पर अवलम्बित रहेगा जिसके पास वह सत्ता रहेगी। यदि जनता को शोपण से वचाना है, उसे स्वतन्त्र दवग वनाना है तो केन्द्रीय-सत्ता को मिटाकर जनता में ही उसे फैलाना होगा।

यदि लोगों ने हमारी बात न मानी तो हम क्या करेंगे ? यह प्रश्न सन्धि-काल में ही उठ सकता है। आदर्श-समाज अर्थात् वर्ग-हीन समाज तो प्रकृति के साथ सामंजस्य रखनेवाला ही होगा। सरकार न रहने से किसी की बात मानने मनवाने का सवाल ही नहीं उठता। उसमें तो यही कल्पना की जासकती है कि सब लोग अपना-अपना फर्ज और जिम्मेवारी अच्छी तरह समझते होंगे और अपने आप ईमानदारी से उनका पालन करते होंगे। परन्तु सन्धि-काल में कानून, फौज, जेलखाने सब रखने होंगे। हां, समाज जैसे-जैसे आदर्श की ओर बढ़ता जायगा वैसे-वैसे इनका दबाव कम होता जायगा और मनुष्य एक व्यक्ति तथा सामाजिक प्राणी के रूप में अधिकाधिक आदर्श बने इसमें उसका उपयोग होता जायगा। यदि आपने यह कल्पना की हो कि सन्धि-काल में निःशस्त्र फौज रहेगी और कानून द्वारा भी किसीको दबाना नहीं है तो आपका 'सत्याग्रह' शस्त्र कहाँ चला गया है ? या तो आप इस सत्याग्रह के द्वारा—जिसमें जेल जाने से लेकर आमरण अनशन तक की तीव्रता भरी हुई है—स्वराज्य को शक्य मानिए, या हिंसाबल के द्वारा। यदि सत्याग्रह के द्वारा शक्य मानते हैं, और उसके द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य को पराजित कर देते हैं तो क्या फिर हिन्दुस्तान में और शोषकों का सामना आप उसके द्वारा न कर सकेंगे ? यदि आप हिंसा-बल के द्वारा ही उसे शक्य मानते हैं तो फिर मौजूदा सरकार की तरह अपनी इच्छा को मनवाने के सब दमन-कारी साधन आपके पास हुई हैं।

कितना अधिकार दिया जाय—यह कोई सौदे की बात तो

है नहीं। ट्रस्टी बनने की कल्पना में व्यक्तिगत स्वामित्व का रहना अनिवार्य नहीं है। रहा भी तो नाम-मात्र का, जिससे ट्रस्टी कभी-कभी अपने मन में खुश हो लिया करे कि मैं मालिक भी हूँ। यदि कारखाने छोटे-छोटे रहे, उत्पादन के साधन बहुतेरे हाथो में बँटे रहे तो उसमें स्वामित्व का अधिकार रहने देने में उतनी बुराई नही है जितनी इस अधिकार के एक या थोड़े व्यक्तियों के हाथ में देने से हो सकती है। थोड़े लोगो के हाथ में रहने से सगठित शोषण जल्दी और अधिक हो सकता है। अधिकतर लोगो के हाथो में रहने से शोषक को इतने सारे लोगो को अपनी योजना का भागी बनाये बिना चारा नहीं है और यह ज्यादा कठिन है। फिर यदि ऐसे व्यक्ति के पास सत्ता न रहे तो उसके लिए कठिनाई और भी ज्यादा हो जाती है। आज भी पूँजीवाद साम्राज्यवाद यानी सत्ता की सहायता के अभाव में अपना शोषण जारी नहीं रख सकता। इसलिए एक तरह से तो, उन लोगो ने जिन्होंने वर्ण-व्यवस्था चलाई थी बडी बुद्धिमत्ता की थी कि जिसको सत्ता दी, उसे धनोपार्जन का अधिकार नही दिया, जिसे धनोपार्जन की छुट्टी दी उसके पास सत्ता नही दी।

फिर कितना स्वामित्व का अधिकार देना, किस विधि से देना, मुआवजा देना या नहीं, ये सब विगत की बातें है और जब उचित अवसर आवेगा तब इनका निपटारा कर लिया जायगा। व्यावहारिक कार्यक्रम हमेशा परिस्थिति पर आधार रखता है और उसके अनुसार बदलता रहता है। आदर्श, सिद्धान्त और नीति हम आगे से तय कर सकते है और कर लेनी चाहिए। सो यदि हम इन बात में सहमत हैं—गांधीवाद और समाजवाद दोनो

कि हमें गरीबो के शोषण का अन्त कर देना है और परोपजीवी वर्ग को भी इस अधोगति से उठाकर स्वाभिमानी और स्वावलम्बी बना देना है तो हमें दोनो की ईमानदारी पर इतना विश्वास भी रखना चाहिए कि जब समय आवेगा तो हम इसका राजमार्ग ढूंढ लेगे। यदि ट्रस्टीपन का हल हानिकर दीखेगा तो गाँधी या उनके अनुयायियो के लिए वह सत्य और अहिंसा की तरह अटल सिद्धान्त नही है—इससे ज्यादा अच्छा निर्दोप उपाय कोई बतावेगा तो अवश्य उसपर अमल कर लिया जायगा।

१०

समाजवाद और गाधीवाद में 'वर्गयुद्ध' एक बडा मतभेद का प्रश्न है। साम्यवादियो का कहना है कि पीडक और पीडित, शोपक और शोषित दो वर्ग है और इनके हित परस्पर-विरोधी है। इसलिए इन दो का एक ही वर्ग बन जाना चाहिए। अर्थात् सबको काम करनेवाला बनकर ही रोटी कमाना चाहिए, दूसरो के परिश्रम का लाभ न उठाना चाहिए जिससे गरीब और अमीर में इतनी बडी खाई न रहे। हिन्दुस्तानी समाजवादी इस स्थिति को 'दबाव' के द्वारा भी बदला चाहता है, किन्तु दबाव का आश्रय तभी लेना चाहता है जब समझाने-बुझाने का रास्ता बन्द हो जाय सो भी 'दबाव' का अर्थ 'कानून का दबाव' ही हो सकता है, क्योकि जबतक वह कांग्रेस के अहिंसात्मक ध्येय से बँधा हुआ है तबतक प्रत्यक्ष-शस्त्र के द्वारा दबाव का सवाल ही नही उठता। कानूनी दबाव का अर्थ भी बहुमत का अल्पमत पर दबाव हो सकता है, जो कि लोकतत्रीय पद्धति मे 'अनिवार्य-दोप' समझा जाता है।

फिर 'युद्ध' से अभिप्राय यहाँ व्यक्ति से नही, पद्धति से है। हम गाधीवादी और कांग्रेसी भी तो हमारे आन्दोलन को अहिंसात्मक सग्राम, सत्याग्रह-युद्ध, इस तरह फौजी-भाषा में पुकारते है। इसी तरह 'वर्गयुद्ध' को भी क्यो न समझें ?

११

जिस तरह गाधीवादी 'वर्गयुद्ध' से भडकते है उसी तरह समाजवादी गाँधीजी के 'राम-राज्य' शब्द पर बिगड उठते है। जैसे 'सत्याग्रह' गाधीजी का जीवनादर्श, 'सर्वोदय' सामाजिक आदर्श है वैसे ही 'राम-राज्य' उनका शासनादर्श है। इसका यह अर्थ नही है कि कोई एक साम्राज्य हो, और उसका कोई चक्रवर्ती राजा हो। राम-राज्य न्याय और प्रजाहित के लिए प्रसिद्ध था। यही वृत्ति शासको की गाँधीजी के रामराज्य में रहेगी। दूसरे शब्दो में यह कहें तो "रामराज्य" न्याय और प्रेम का राज्य होगा। उसमें एक ओर बेशुमार धन-सम्पत्ति और दूसरी ओर करुणाजनक फाकेकशी नही हो सकती, उसमें कोई भूखा नही मर सकता, उसका आधार पशु-बल न होगा; बल्कि वह लोगों के प्रेम और स्वेच्छापूर्वक दिये गये सहयोग पर अवलम्बित रहेगा। राम-राज्य करोडो का और करोड़ो के सुख के लिए होगा। उसके विधान में जो मुख्य अधिकारी होगा वह चाहे राजा कहा जाय या अध्यक्ष अथवा और कुछ, प्रजा का सच्चा सेवक होने के कारण उस पद पर होगा। प्रजा की प्रीति से वहाँ रहेगा और उसके कल्याण के ही लिए सदा प्रयत्न करता रहेगा। वह लोगो के धन पर आमोद-प्रमोद न करेगा और अधिकार-बल से लोगो को न सतावेगा; बल्कि राजा या उसके जैसा कहलाते हुए भी एक फकीर

की तरह रहेगा। राम-राज्य का अर्थ है कम-से-कम नियत्रण। उसमे लोग अपना बहुतेरा व्यवहार आपस मे ही मिल-जुलकर अपनेआप कर लिया करेगे। उसमें ऐसी स्थिति प्राय न होगी कि कानून बना-बनाकर अधिकारियो द्वारा दण्ड-भय से उनका पालन कराया जाय। उसमे सुधार करने के लिए लोग धारा-सभा या अधिकारियो की राह देखते न बैठे रहेगे। बल्कि लोगो ने जिन सुधारो को रूढ कर दिया होगा उनके अनुकूल धारा-सभायें खुद ही ऐसे कानूनो में सुधार करने और अधिकारीगण उनका अमल कराने की व्यवस्था करेगे।

राम-राज्य में खेती का धन्धा तरक्की पर होगा और दूसरे तमाम धन्धे उसके सहारे कायम रहेगे। अन्न और वस्त्र के विषय मे लोग स्वाधीन होगे और गाय-बैल की हालत भी बहुत अच्छी होगी, जिससे आदर्श गो-रक्षा की व्यवस्था होगी। राम-राज्य मे सब धर्म और सब वर्ग समानभाव से मिल-जुलकर रहेगे और धार्मिक झगडे, क्षुद्रस्पर्धा अथवा विरोधी स्वार्थ जैसी कोई वस्तु न होगी।

राम-राज्य में स्त्रियो का दरजा पुरुषो के ही बराबर होगा। राम-राज्य में कोई सम्पत्ति या आलस्य के कारण निरुद्यमी न होगा। मेहनत करते हुए भी कोई भूखो न मरेगा, किसीको भी उद्यम के अभाव में मजबूरन आलसी न बनना पडेगा। रामराज्य मे आन्तरिक कलह न होगा, और न विदेशी के साथ ही लडाई होगी। उसमे दूसरे देशो को लूटने की, जीतने की या व्यापार-धन्धो अथवा नीति का नाश करनेवाली राजनीति अस्वीकृत होगी। दूसरे राष्ट्रो के साथ उसका मित्र-भाव होगा। इस कारण

६८ राम-राज्य में सैनिक खर्च कम-से-कम होगा। राम-राज्य में लोग केवल लिख-पढ ही न सकेगे, बल्कि सच्चे अर्थ में शिक्षा पाये हुए होगे---अर्थात् उन्हे ऐसी शिक्षा मिलती रहेगी जो मुक्ति (परम स्वतन्त्रता) देनेवाली और मुक्ति में स्थिर रखनेवाली हो।"

राम-राज्य की यह रूपरेखा श्री किशोरलाल मश्रुवाला के 'गांधी विचार दोहन' से दी गई है। यद्यपि इसमें शासन और समाज दोनों के आदर्शों का मिश्रित चित्र आ गया है, तथापि यदि इन दोनो का हम पृथक्-पृथक् विचार करे तो कहना होगा कि राम-राज्य शासन का और सर्वोदय समाज का आदर्श हो सकता है। अर्थात् इसमें सन्धिकाल की उत्तम शासन-व्यवस्था का चित्र खीचा गया है, नकि आदर्श-काल के पूर्ण समाज की स्थिति का दर्शन कराया गया है। इतने स्पष्टीकरण के बाद मैं नही समझता कि किसी हिन्दुस्तानी समाजवादी को 'राम-राज्य' से क्यो असन्तोष रहना चाहिए।

१२

इनके अलावा ईश्वर और धर्म के विषय में भी समाजवाद और गांधीवाद में मतभेद है। समाजवाद ईश्वर के अस्तित्व को नही मानता। धर्म को वह ढोग और समाज के लिए जहर मानता है। परन्तु हिन्दुस्तानी समाजवादी इस विषय मे चुप है। हाँ, उनके नेता प० जवाहरलालजी ने अपने लिए यह जरूर कहा है कि यदि सदाचार का नाम धर्म है तो मै भी अपनेको धार्मिक कह सकता हूँ। गाधीवाद नीतिमूलक धर्म को ही धर्म मानता है। हाँ, आस्तिक होने के कारण उसमें ईश्वरोपासना को भी स्थान है और इसलिए उपासना की विविधता उसको ग्राह्य है। परन्तु

हिन्दुस्तानी समाजवादी आज इसे आन्दोलन का विषय नही बना
रहे है, इसलिए इसपर यहाँ अधिक लिखने की जरूरत नही। हाँ, इतना स्पष्ट कर देना जरूरी है कि धर्म के बाह्याचार को और ऊपरी विधि-विधानो को गाधीवाद मे धर्म का आवश्यक अग नही माना गया है। इसी तरह ईश्वर सत्य का दूसरा नाम माना गया है, सत्य की पूर्ण सिद्धि का ही नाम परमेश्वर का साक्षात्कार कहा गया है। और गाधीवाद के सत्य का अर्थ इस लेख के आरम्भ में दिया ही जा चुका है।

इस तरह, जहाँतक मै सोचता हूँ, गाधीवाद और समाजवाद मे ध्येय या आदर्श का उतना अन्तर नही है जितना सन्धिकाल की योजना मे या साधनो मे अन्तर है। गाधीवाद में अहिंसा शुरू से अखीर तक अनिवार्य है, समाजवाद मे हिंसा से भी काम लिया जा सकता है, यही मुख्य अन्तर है। और इसका मूल कारण है पूर्व और पश्चिम की सस्कृति का भेद। समाजवाद जिन स्थितियो और देशो मे जन्मा है वहाँ आरम्भ से ही वह अहिंसात्मक नही रह सकता था। परन्तु हिन्दुस्तान मे उसका आरम्भ अहिंसा से ही शुरू हो रहा है। यह बहुत बडा फर्क है जो हिन्दुस्तानी समाजवाद को गाधीवाद के साथ-साथ चलने का रास्ता सुगम कर देता है।

: ४ :

गांधीजी का मार्ग

[लेखक—आचार्य कृपलानी]

मुझे "गांधीवाद" पर लिखने को कहा गया था, किन्तु मैंने "सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं के बारे में गांधीजी का दृष्टिकोण" अथवा संक्षेप में कहूं तो "गांधीजी का मार्ग" शीर्षक पसन्द किया। क्योंकि मैं मानता हूं कि गांधीवाद जैसी कोई चीज़ अभी अस्तित्व में नहीं आई है। सभी "वादों" का जन्म उन लोगों की प्रेरणा से नहीं होता, जिनके नाम पर कि वे स्थापित और प्रचलित किये जाते हैं, बल्कि मूल-विचारों पर अनुयायियों द्वारा लादी जाने वाली मर्यादाओं के फलस्वरूप वे अस्तित्व में आते हैं। रचनात्मक प्रतिभा के अभाव में अनुयायी प्रणालियां कायम करते और संगठन बनाते हैं। ऐसा करते समय वे मूल सिद्धान्तों को कठोर, स्थिर, एकपक्षी और कट्टर बना देते हैं। उनकी प्रारम्भिक ताज़गी और परिवर्तन-शीलता नष्ट हो जाती है, जो कि यौवन की निशानी है। इसके अलावा, गांधीजी कोई तत्त्ववेत्ता नहीं हैं। उन्होंने किसी प्रणाली को जन्म नहीं दिया। शुरू से ही वे असली सुधारक रहे हैं। इसी हैसियत से वे पैदा होनेवाली समस्याओं को हल करने की कोशिश करते हैं और उनपर लिखते हैं। वे सर्वोपरि कर्म-प्रधान पुरुष हैं। यह ठीक ही है कि उनको कर्मयोगी कहा जाता है। इसीलिए उनके भाषणों, लेखों और कार्यों में सम्भव है हमको कोई तर्कसंगत अथवा तात्त्विक प्रणाली न दिखाई दे। इस बारे में उनकी अवस्था पुराने ज़माने के पैगम्बरों

और सुधारको जैसी है। उनको भी रोजमर्रा की व्यावहारिक समस्याओ का सामना करना पडा था। उन्होने अपने-आपको कठोर प्रणालियो में न फँसाते हुए उन समस्याओ को हल करने का रास्ता खोज निकाला था। सम्भवत खास-खास मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त स्थिर कर दिये गये थे और विस्तार की बाते तय करने का काम खास परिस्थितियो और जरूरतो के अनुसार हरेक व्यक्ति पर छोड दिया गया था। तत्त्ववाद, प्रणाली और कट्टरता को नीचे के लोगो ने जन्म दिया, जिनका जीवन-विषयक ज्ञान और दृष्टिकोण सकुचित था।

गांधीजी ने अपनी सम्मतियो के लिए पूर्णता का दावा कभी नही किया। वे अपनी प्रवृत्तियो को सत्य की खोज अथवा सत्य के प्रयोग कहते है। ये प्रयोग किये जा रहे है। उनको सत्य मान लेना अथवा उनके लिए सत्य का दावा करना किसी भी आदमी के लिए अहकार का द्योतक होगा। यह सच है कि गांधीजी के कुछ, अनुयायी जो बुद्धिमान की अपेक्षा उत्साही अधिक है, गांधीजी की सम्मतियो के लिए पूर्णता का दावा करते है, किन्तु स्वय गांधीजी वैसा कोई दावा नही करते। वे गलतियो को स्वीकार करते है और उनको सुधारने की कोशिश करते है। वे सिर्फ अपने दो आधारभूत सिद्धान्तो—सत्य और अहिंसा—को एक प्रकार से भूल से परे मानते है। शेष बातो के बारे में वे सीखने के लिए उतने ही तैयार रहते है जितने कि उस बात को सिखाने के लिए जिसे वे अपने दृष्टिकोण के अनुसार सत्य समझते है। जहाँ तक दोनो आधारभूत सिद्धान्तो को व्यवहार मे लाने का ताल्लुक है, इस बारे मे भी कट्टरता का परिचय नहीं दिया जाता। वे खुले तौर

७० पर स्वीकार करते हैं कि अलग-अलग परिस्थितियों और अवस्थाओं में उनका अलग-अलग तरह प्रयोग किया जा सकता है। उनके इस प्रकार के रवैये की वजह से ही बहुधा उनके अनुयायी और दूसरे लोग गड़बड़ी में पड जाते हैं और यह कह सकना प्रायः मुश्किल हो जाता है कि वे किन्हीं खास परिस्थितियों में क्या करेंगे। चूंकि उनका व्यक्तित्व उन्नतिशील और विकासमान है, इसलिए उनके विचारों और कार्यों का आकार-प्रकार अन्तिम तौर पर निश्चित नहीं हो सकता। जिन्होंने उनको नजदीक से देखा है, उन्होंने इस बात का अनुभव किया है। कार्यों और विचारों के बारे में उनके बदलते हुए रुख से यह बात बहुधा स्पष्ट हो जाती है। भीतरी धारा और मार्गदर्शक भावना तो वही होती है, किन्तु उसका बाहरी रूप भिन्न होता है। यही कारण है कि उनमें युवकों-जैसी ताजगी है और वे समय से आगे चल सकते हैं। जहाँ उनके कई युवा अनुयायी जड बन जाते हैं और अपनी जीवन-शक्ति खो बैठते हैं, वहाँ गांधीजी हमेशा शक्तिशाली, क्रियाशील और उत्साह से भरे रहते हैं। जहाँ दूसरे लोग नई पीढ़ी की युवकोचित स्वच्छंदता के प्रति अधीर हो जाते हैं, वहाँ वे हमेशा समझने की कोशिश करते हैं, धीरज से काम लेते हैं और नये प्रस्तावों पर खुले और अपेक्षाकृत निष्पक्ष दिमाग से विचार करते हैं। इसीलिए गांधीवाद जैसी कोई चीज अभी पैदा नहीं हुई, सिर्फ गांधीजी का बताया हुआ मार्ग और दृष्टिकोण है, जो न सख्त है, न नियमित और न अन्तिम। वह ब्योरेवार बातें अन्तिम रूप से अथवा हर समय के लिए तय करने की कोशिश नहीं करता, सिर्फ एक दिशा सूचित करता है।

हमारे देश की विशेष प्रकार की परिस्थितियो के कारण गाँधीजी सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में आये। अपने कुछ अधिक भाग्यशाली देशवासियो की तरह वे इग्लैण्ड गये, वकालत की परीक्षा पास की और रुपया कमाने तथा अपना और परिवार का जीवन सुख-सुविधापूर्वक बिताने के लिए धन्धा करने लगे। उनका विवाह होचुका था। वे अपने धन्धे के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका गये। परिस्थितियो ने उनको अपना भाग्य वहाँ रहनेवाले अपने देशवासियो के भाग्य के साथ जोड़ देने और उनकी लडाइयाँ लडने के लिए मजबूर किया। उनमे से अधिकाश दरिद्र और अशिक्षित थे। कुछ लोग मालदार भी थे, किन्तु उनका उद्देश्य धन कमाना था। उनमे सार्वजनिक भावना और राजनैतिक प्रेरणा का अभाव था। एक विदेशी मुल्क मे, जहाँ जातिगत पक्षपात और आर्थिक द्वेष का बोलबाला था, सभी को मार्ग-प्रदर्शन और नेतृत्व की जरूरत थी। उनको कई तरह की सामाजिक और राजनैतिक बाधायें सहन करनी पडती थी और वे अनेक अपमानकारी प्रतिबन्धो के शिकार थे। गाँधीजी को उस मुल्क में बस जानेवाले अपने देशवासियो के छिनते हुए अधिकारो की रक्षार्थ लडाई में कूदना पडा। एक बार उसमें कूद पडने के बाद उन्होने सच्चाई, योग्यता और जोश के साथ अपनी सारी शक्ति उसमें लगादी। उन्होने अपना सर्वस्व उस लडाई में लगा दिया और किसी भी जोखिम की परवा नही की। उस सघर्ष में उन्होने सामूहिक शिकायतो को दूर करवाने के किए नये युद्ध-कौशल का विकास किया और सत्याग्रह के मोटे सिद्धान्तो का पता लगाया। हमेशा की तरह, पहले सिद्धान्त पर अमल किया

गया और नाम तथा सैद्धान्तिक प्रणाली का जन्म बाद में हुआ। इस लड़ाई में गांधीजी को मालूम हुआ कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत और कौटुम्बिक मामलों में ही उपयोगी नहीं है, बल्कि समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्थिर करने के लिए भी वे अच्छे और योग्य साधन है। मानव इतिहास में ये सिद्धान्त कोई नये नहीं हैं। पुराने ज़माने के कई पैगम्बरों ने उनपर अमल किया है और उनका प्रचार किया है। किन्तु राजनैतिक सम्बन्धों और झगड़ों पर उनको लागू करने का अभीतक कोई व्यापक प्रयत्न नहीं किया गया था। गांधीजी को ही एक बड़े पैमाने पर इस बात को साबित करने का श्रेय है कि जो नैतिक और सज्जनोचित आचरण व्यक्तिगत सम्बन्धों के लिए उपयोगी है, वे अन्तर-सामुदायिक सम्बन्धों के लिए भी उपयोगी और कारगर हैं। उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि सत्य और अहिंसा द्वारा बाहरी तौर पर इस प्रकार प्रभावशाली ढंग से लड़ाई संगठित की जा सकती है कि जिसका विरोध करना मुश्किल हो जाय। उन्होंने मालूम किया कि अच्छे उद्देश्य के लिए लड़नेवाला चाहे तो बिना हिंसा का सहारा लिये अपनी शिकायतें दूर करवा सकता है, और यह कि अन्याय और अत्याचार के मुकाबिले में परम्परागत हिंसात्मक हथियारों की अपेक्षा सत्य और अहिंसा कहीं अच्छे और अधिक कारगर हथियार हैं।

गांधीजी ने यह साबित करने के लिए कि सभी सम्प्रदायों के मूल में सत्य और अहिंसा है, अन्य बातों के साथ एक सीधी कसौटी का प्रयोग किया। जहाँ सत्य की सफलता के लिए असत्य और हिंसा के सहयोग और समर्थन की ज़रूरत नहीं होती, वहाँ

असत्य और हिंसा की सफलता के लिए हमेशा सत्य की जरूरत होती है। क्योंकि जीवन मे हरेक कार्य की, चाहे वह कितना ही स्वार्थमय और असामाजिक क्यो न हो, जड मे यह वात होना जरूरी है कि जो लोग उसमें पडे हुए हो वे एक-दूसरे के प्रति सच्चे रहे। उदाहरण के लिए व्यापार ऐसा क्षेत्र है जिसमे अन्य स्थानो की अपेक्षा स्वार्थपरता और लालच का सम्भवत ज्यादा बोलवाला होता है। किन्तु व्यापार मे भी कोई व्यवहार अथवा धोखा अधिक समय तक नही चल सकता, अगर व्यापारी एक-दूसरे के प्रति सच्चे न रहे और उनका जवानी कथन लिखित इकरारनामे जितना ही महत्व न रखता हो। चोर और हत्यारो को एक-दूसरे के प्रति सच्चा रहना पडता है। कई बार उनको व्यक्तिगत लाभ का वलिदान करके पारस्परिक वफादारी की रक्षा करनी पडती है। कोई भी काम हो, उसमें आधारभूत सिद्धान्त के तौर पर किसी-न-किसी रूप में सत्य का सहारा लेना ही पडेगा, चाहे वह सत्य कितना ही मर्यादित क्यो न हो। यही वात अहिंसा के वारे में है। कोई भी व्यापक और सगठित हिंसा सम्भव नही हो सकती, अगर उसमें लगे हुए लोग अपने दल के भीतर अहिंसा के नियमो का पालन न करे। इस मूल सिद्धान्त के विना वे शत्रु के साथ सम्भवत अपनी लडाई जारी नही रख सकते। यदि कोई सेना केवल अहिंसा में विश्वास रखती हो तो शत्रु के खिलाफ उस हिंसा का उपयोग होने के पहले वह अपने-आपको ही खत्म कर लेगी।

सत्य और अहिंसा को सभी सगठित जीवन के आधारभूत सिद्धान्त मानकर गाँधीजी उनका राजनैतिक क्षेत्र में उपयोग

करते हैं, जहाँ अभीतक परिणामों को देखते हुए असत्य और हिंसा को ही हमेशा श्रेष्ठतर समझा गया है। किन्तु गांधीजी परिणामों का पैदा होना उच्चतर शक्तियों के हाथ में छोडकर केवल कोरे सिद्धान्तों के अचूकपन पर ही निर्भर नहीं रहते हैं। यद्यपि वे चाहते हैं कि विरोधी का हृदय-परिवर्तन हो, किन्तु वे केवल इसी बात मे विश्वास नहीं करते। वे सबसे अधिक उन लोगों को सगठित और मजबूत बनाने की कोशिश करते है, जो कि अन्याय और अत्याचार से पीडित होते हैं। वे ठीक तौर पर सगठित हो सकें, इसके लिए गांधीजी चाहते है कि वे सब अन्यायों से अलग हो जायें, सब मतभेदों को दूर कर दें, निर्भय हो जायें और छोटे-मोटे स्वार्थों को तिलाञ्जलि दे दें। इस प्रकार अपने-आपको मजबूत और सगठित करने के बाद, गांधीजी चाहते हैं कि वे अन्याय और अत्याचार को जो सहायता देते आये हैं उसे वापस ले लें। सक्षेप में, वे चाहते हैं कि लोग बुराई की ताक़तों के साथ असहयोग करें।

भूतकाल में कैसी भी स्थिति रही हो, आज की दुनिया में अत्याचार तभी सम्भव होता है जब कि अत्याचार-पीडित इच्छा-पूर्वक या अनिच्छा से, जान में या अनजान में, खुशी से जबरदस्ती अत्याचारियों को सहयोग देते हैं। यदि अत्याचार-पीडित सब प्रकार से सहयोग देना बन्द करदें और इस इन्कारी के परिणामों को भुगतने को तैयार हों, तो अन्याय और अत्याचार लम्बे अर्से तक जारी नहीं रह सकते। औद्योगिक झगडों में इसका परिचय मिलता है। जब कभी श्रमिकों ने दृढतापूर्वक अपना सहयोग वापस ले लिया है, तभी पूंजीपतियों ने हमेशा हार मानी है।

अलग-अलग औद्योगिक झगडो के परिणामो को देखते हुए श्रमिक
अपनी शिकायतो को दूर करवाने के लिए और राजनैतिक अथवा क्रान्तिकारी उद्देश्यो के लिए आज आम हडतालो की बाते करने लगे है। अब वाह्यत हडताल असहयोग—सत्याग्रह के अतिरिक्त और क्या है ? औद्योगिक झगडे में काम करने वाली आन्तरिक भावना गाँधीजी द्वारा कल्पित सत्याग्रह की भावना से भिन्न है, हालाँकि यह भिन्नता कोई जरूरी नही है, किन्तु सहयोग वापस ले लेने का तरीका दोनो अवस्थाओ मे समान है। यदि औद्योगिक झगडो में सहयोग से दृश्य परिणाम निकल सकते है, तो सत्याग्रह के वारे में शकाशीलता क्यो होनी चाहिए ? सत्याग्रह हडताल तो है ही, उसमे कुछ और विशेपता भी है। वह विशेपता लडाई लडनेवालो में अनुशासन और आत्मविश्वास की उच्चतर भावना जाग्रत करती है और विरोधी की इस प्रकार की भावना को कुण्ठित बनाती है। तटस्थ रहनेवालो में उसके कारण अधिक सहानुभूति पैदा होती है। सहयोग वापस ले लेने के वाहरी साधनो को अधिक मनोवैज्ञानिक और सूक्ष्म प्रभावो द्वारा मदद मिलती है और वे मजबूत वनते है। सत्याग्रही अपेक्षाकृत अच्छा असहयोगी अथवा हडताली होता है। उसका निर्णय आवेश, क्रोध और घृणा के द्वारा आच्छादित नही होता। वह अपने विरोधी को नि शस्त्र बना देता है। वह अधिक सहानुभूति प्राप्त करता है। वह इस विश्वास के सहारे निश्चिन्त रहता है कि स्वेच्छा-पूर्वक कष्ट-सहन से हमेशा व्यक्ति की प्रगति होती है। किन्तु थोडी देर के लिए उसके पक्ष में काम करनेवाले सब नैतिक और मनोवैज्ञानिक कारणो और शक्तियो को एक ओर रख दिया

जाय और हम सहयोग वापस ले लेने की बाहरी बात का ही विचार करें तो भी इस तरीके में रहस्यपूर्ण क्या चीज है ? यह तरीका औद्योगिक झगडो के निपटारे के लिए, पिछले डेढ़ सौ वर्षों से, कम-ज्यादा सफलता के साथ काम में लाया गया है। उसके अभाव में आज आम हडतालो और समाजवाद अथवा साम्यवाद की शायद ही चर्चा सुनाई देती। सत्याग्रह उसी दशा में कुछ रहस्यमय और आध्यात्मिक अस्त्र हो सकता है जब उस-का मतलब किसी ऐसी चीज से हो जो अज्ञात हो, अज्ञेय हो और अव्यावहारिक हो। आम हडताल ऐसी चीज है जो व्यावहारिक निश्चित और बुद्धिगम्य है। तब सत्याग्रह बुद्धि से परे की चीज क्यो होना चाहिए ? मनुष्यो के लिए यह कितनी आसान बात है कि वे वाक्यो, शब्दो और नामो के जाल में फँस जाते है और इस प्रकार जहाँ मतभेद न हो वहाँ मतभेद खडे कर देते है। आप गाँधीजी की भाषा में और सत्याग्रह की शब्दावलि में चर्चा कीजिए और एक निश्चित, दृश्य संघर्ष रहस्यपूर्ण, आध्यात्मिक, आदर्शवादी और फलस्वरूप अवास्तविक रूप धारण कर लेगा। इसके विपरीत आम हडताल की भाषा में बात कीजिए और एक-दम वही चीज वैज्ञानिक ही नही, ऐतिहासिक आवश्यकता में बदल जायगी।

आधुनिक विचार-धारा सत्याग्रह के मामले में ही मूलतत्त्व को नही भुलाती, बल्कि राजनैतिक क्षेत्र में गाँधीजी के सत्य के प्रयोग के बारे में यही हाल हो रहा है। आज दुनिया की जो हालत है उसको देखते हुए यह अत्यन्त जरूरी समझा जाता है कि अन्तर-सामूहिक और अन्तर-राष्ट्रीय मामलो में सत्य से काम

लिया जाय। यदि कूटनीति जैसी अब तक रही है वैसी ही आगे ७७
भी रहनेवाली हो, तो आज इस बात का भारी खतरा है कि
आधुनिक सभ्यता की सारी इमारत टुकडे-टुकडे होकर नष्ट हो
जाय। डॉ० वुडरो विल्सन और दूसरे अत्यन्त व्यावहारिक राज-
नीतिज्ञो ने गत महायुद्ध मे इस बात को साफ तौर पर समझ
लिया था। अब राजनीति में सत्य इसके अलावा और क्या
है कि जिसकी खुली कूटनीति कहकर तारीफ की गई है ?
जब डॉ० विल्सन ने इस सिद्धान्त को दुनिया के राष्ट्रो के सामने
रखा और जब उन्होने इस सिद्धान्त के आधार पर राष्ट्रसघ
बनाने की सलाह दी तो किसीने भी उनको रहस्यवादी, आध्यात्म-
वादी या अव्यावहारिक राजनीतिज्ञ नही समझा। जब रूस,
समाजवाद तथा साम्यवाद खुली कूटनीति का जिक्र करते है
तब आधुनिक मस्तिष्क मे कोई गोलमाल पैदा नही होता। क्या
इसकी यही वजह है कि वह जो-कुछ कहते है वैसा करना नही
चाहते ? किन्तु जब गांधीजी राजनैतिक मामलो मे सत्य की
चर्चा करते है तो सभी ज्ञानवान और बुद्धिमान भयत्रस्त होकर
अपने हाथ ऊँचे उठा देते है और चिल्लाकर कहते है—मानव-
स्वभाव जैसा भी है और राजनीति जैसी है और हमेशा से रही
है, उसको देखते हुए यह सम्भव नहीं हो सकता। हमेशा की
भाँति कट्टरता शब्दो के लिए लडने लगती है। धर्म के मामले
मे हमको इसका उदाहरण दिखाई देता है। यदि ईसाई यह
कहता है कि दैवीआत्मा फाख्ता की शक्ल मे अवतरित हुई तो
यह बुद्धिसगत समझा जाता है। किन्तु यदि हिन्दू यह कहता है
कि मनुष्य के उच्चतर स्वरूप में उसने अवतार लिया है, तो

इसको पूर्वी अन्धविश्वास कह दिया जाता है। यदि हिन्दू मूर्ति की पूजा करता है तो वह अन्धविश्वास के अलावा कुछ नहीं, किन्तु यदि कोई किताब या धर्मग्रन्थ सैकड़ों तह में लिपटी हुई हो और उसे छूने या खोलने के समय हरबार उसे चूमा जाए तो यह तर्कयुक्त बात हो जाती है। यदि कोई खुली कूटनीति की बात करे तो वह व्यावहारिक राजनीतिज्ञ हो गया, किन्तु अगर कोई राजनीति में सत्य का ज़िक्र करे तो वह एकदम रहस्यवादी, सन्त और अव्यावहारिक राजनीतिज्ञ बन जायगा। आप आम-हड़तालों की भाषा में बात कीजिए, आप वैज्ञानिक कहे जायँगे, किन्तु आप सत्याग्रह का नाम लीजिए, और आप एकदम अवैज्ञानिक और प्रतिगामी बन जायँगे।

हाँ, तो गांधीजी ने लड़ाई का अपना तरीका और उसकी व्यूह-रचना को दक्षिण अफ्रीका में स्थापित और विकसित किया। इसका उन्होंने वहाँ इस तरह उपयोग किया कि जिससे कुछ नतीजा भी निकला। उन्होंने सत्याग्रह के उसी हथियार का यहाँ भी कई मौकों पर यानी चम्पारन में और असहयोग की गत तीन लड़ाइयों में उपयोग किया है। इन सभी उदाहरणों में, जब वे अपने अथवा राष्ट्र के उद्देश्य को सिद्ध न कर सके तब भी, उन्हें काफी सफलता मिली है। सशस्त्र विद्रोह में भी पहले ही धावे में अथवा एक ही बार में सफलता नहीं मिल जाती। जब किसी उद्देश की रक्षार्थ लम्बा युद्ध होता है तो उसमें कई लड़ाइयाँ लड़ी जाती हैं, छुटपुट हमले होते हैं और घेरे डाले जाते हैं, विफलतायें और सफलतायें मिलती हैं। यदि कोई ताकत मामूली मुठभेड़ों में सफल होती है तो उसे अपने-आपको सफल

समझना चाहिए और वह सकारण आशा रख सकती है कि आगे चलकर वह पूरी विजय प्राप्त करेगी और अपने उद्देश्य को हासिल कर सकेगी। यदि मामूली भिडन्त मे हार भी हो जाय तो भी यदि सेना विना किसी रुकावट के कदम आगे बढाती रहे और उसकी अनुशासन और आत्मविश्वास की भावना ज्यों-की-त्यो कायम रहे, उसकी मुकाविला करने की शक्ति बढे और वह अपनी सफलता का क्रमश अच्छे-से-अच्छा हिसाव देती रहे, तो चाहे उद्देश्य की प्राप्ति न हो तो भी जो तरीका काम मे लाया गया हो वह अच्छा समझा जाना चाहिए। अव शायद ही कोई इससे इन्कार करेगा कि गाँधीजी की आधीनता में राष्ट्र ने जो भी लडाई लडी है, उसमे उसने आगे प्रगति की है और उसकी मुकाविले की ताकत बढी है। पक्षपात के वशीभूत होकर ही यह कहा जा सकता है कि इन सत्याग्रह-युद्धो के फलस्वरूप राष्ट्र ने ताकत, बलिदान, सगठन, निर्भयता और अनुशासन की दृष्टि से प्रगति नही की है। प्रयेक सघर्ष में दमन की मात्रा बढी, और फलत ज्यादा मुसीवतो और कष्टो का सामना करना पडा। किन्तु हरवार लोगो ने अधिकाधिक हिस्सा लिया और मुकाविला कडा-से-कडा हुआ। सन् १९३० में राष्ट्र ने १९२०-२१ की अपेक्षा अपना अच्छा हिसाव पेश किया। सन् १९३२-३३ मे हालत उससे भी अच्छी रही। लडाई का वाहरी नतीजा उतना अनुकूल नही आया जितना कि सन् १९३० में आया था, किन्तु राष्ट्र ने ज्यादा लम्बी लडाई लडी और ज्यादा कडे आघात का मुकाबिला किया। दमन ज्यादा कठोर और व्यापक हुआ और यद्यपि राष्ट्र को शत्रु के पशुवल के आगे थककर अपनी लडाई स्थगित

उसका कोई उपयोग नही रहा। यदि बात ऐसी ही हो तो ८१
यह आलोचक का काम है कि वह अधिक अच्छा और ज्यादा असरकारक तरीका सुझावे। क्या किसी भी आलोचक ने अभीतक हमारे सामने सगठित प्रतिरोध का कोई नया तरीका पेश किया है? इसके विपरीत यह प्रकट है कि सभी विचारशील लोग, यहाँतक कि कथित प्रगतिशील दलो के लोग भी, मानते है कि जिन परिस्थितियो में आज ससार और खासकर हिन्दुस्तान गुजर रहा है, उनको देखते हुए लडाई का तरीका अहिंसात्मक ही हो सकता है। युद्ध और सहार के वर्तमान हथियारो पर राज्यो और सरकारो का एकाधिपत्य होने के कारण बन्दूक और पिस्तौल लाठी अथवा पुराने जमाने के तीर-कमान से अच्छे साबित न होगे। हवाई और रसायनिक युद्ध के जमाने में, जब कि लडाई के सब साधन सरकारो के हाथ में है, सशस्त्र लोग भी हिंसात्मक युद्ध में राज्यो के मुकाबिले सफल होने की आशा नही कर सकते। फिर हिन्दुस्तान जैसा नि शस्त्र राष्ट्र क्योकर विजयी हो सकता है? इसके अलावा सैनिक अर्थ में खुलेतौर पर सगठन करना सम्भव नही हो सकता। हम अहिंसात्मक उपायो द्वारा ही अपना सगठन कर सकते है। और आखिर हिंसात्मक लडाई में भी सगठन, अनुशासन, एकता, बहादुरी और त्याग जैसे नैतिक गुणो का ही सबसे ज्यादा महत्व होता है। सत्याग्रह इन गुणो का विशिष्ट रूप में विकास करता है। अन्तिम विजय किसी उपाय से हो, हिंसा से हो या अहिंसा से, गाँधीजी के नेतृत्व में राष्ट्र जिन गुणो को क्रमश प्राप्त करता जा रहा है, वे आचरण में लाने और प्राप्त करने योग्य है। उनपर व्यापक अमल शान्तिपूर्ण उपायो द्वारा किया जा सकता है। यह

बिल्कुल सम्भव है कि एक छोटेसे गुप्त-क्रान्तिकारी दल में ये सब नैतिक गुण हों। किन्तु सारा राष्ट्र इस या इतने विस्तृत और गुप्त तरीकों से इन गुणों को नहीं पा सकता। इसलिए अन्तिम हिंसात्मक संघर्ष के लिए भी वे गुण जिनका सत्याग्रह ने भारतीयों के चरित्र में विकास किया है, उपयोगी साबित होंगे; क्योंकि सभी लड़ाइयों के लिए, चाहे वे हिंसात्मक हों या अहिंसात्मक, वे आवश्यक होते है। अतः यदि हमेशा के लिए नहीं तो कम-से-कम कुछ वर्षों के लिए हमारे लिए सत्याग्रह अथवा हड़ताल का तरीका ही शेष रह जाता है। जनता के सुधारक के लिए यह न तो सम्भव है और न वाञ्छनीय कि वह अति दूर के भविष्य में झांकने की कोशिश करे। वह सिर्फ़ वर्तमान का ही ख्याल करेगा तो गलती करेगा। और यदि वह अति सुदूर भविष्य की कल्पना करके सोचेगा तो भी वह गलती करेगा। उसको दो अतिरेकों के बीच एक व्यावहारिक रास्ता ढूंढ लेना चाहिए। स्वराज्य के लिए हमारी सत्याग्रह की अहिंसात्मक लड़ाई ही वह बीच का रास्ता है। इसलिए राजनैतिक सत्ता हस्तगत करने के लिए अहिंसक लड़ाई के किसी क्रान्तिकारी कार्यक्रम का सवाल है, क्योंकि किसी भी दल ने गांधीजी के सत्याग्रही तरीके के बजाय कोई दूसरा योग्य उपाय अब-तक भी सूचित नहीं किया है।

किसी क्रान्तिकारी लड़ाई में प्रत्यक्ष संघर्ष का उतना ही महत्व है जितना कि उस समय का, जब संघर्ष सम्भव नहीं होता, जब राजनैतिक दमन अथवा थकावट के कारण राष्ट्र प्रत्यक्ष संघर्ष की जोखिम और तकलीफ़ें बरदाश्त करने को तैयार नहीं होता। ऐसे समयों के लिए राष्ट्र के सामने कुछ रचनात्मक और

उपयोगी काम होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो सैनिक-दल
असगठित हो जायँगे। सत्याग्रह के सैनिको को समय-समय पर अपने कैम्पो में विश्राम करना पडता है। वहाँ उनके सामने ऐसे काम होने चाहिएँ जो उनको दुरुस्त और सुव्यवस्थित रख सके। तुलनात्मक शान्ति के समय का उपयोग सगठन को मजबूत बनाने के लिए किया जाना चाहिए। यदि इस बात की उपेक्षा की गई तो अगली लडाई के समय राष्ट्र असगठित और बदहवास हो जायगा। गाँधीजी ने राजनैतिक शिथिलता और शान्ति के ऐसे समयो के लिए रचनात्मक कार्यक्रम का विकास किया है। खादी, ग्राम-उद्योग, ग्राम-सेवा, राष्ट्रीय शिक्षा, हरिजन-कार्य-हिन्दुस्तानी-प्रचार आदि कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ है जिनको उन्होने सगठित किया है और जिनको चलाने के लिए उन्होने सस्थायें बना दी है। ये प्रवृत्तियाँ स्वयमेव अच्छी है और कार्यकर्त्ताओ की सेना को काम में लगाये रखती है। राष्ट्र भी इन प्रवृत्तियो मे हिस्सा लेकर और सहायता देकर सार्वजनिक कार्य और जिम्मेदारी की शिक्षा प्राप्त करता है। इतना ही नही, जब सविनय अवज्ञा स्थगित होती है, खास प्रश्नो पर सरकार के साथ स्थानीय लडाइयाँ भी जारी रहती है। बारडोली की ऐसी ही लडाई थी।

इन रचनात्मक और आशिक प्रवृत्तियो में उन लोगो को भी खीच लिया जाता है जो या तो सीधी राजनैतिक लडाई में विश्वास नही करते या राजनैतिक काम की अपेक्षा सामाजिक काम में ज्यादा दिलचस्पी रखते है। गाँधीजी और उनके साथी कार्यकर्त्ता इन प्रवृत्तियो को सामाजिक और राजनैतिक दोनो दृष्टिकोणो से देखते है। इन कामो में लगे हुए होने पर भी वे

८४ इस बात को कभी नहीं भूलते कि वे मुख्यत स्वतन्त्रता की लड़ाई के सैनिक है। इसलिए इन प्रवृत्तियो को केवल संकुचित समाज-सुधार के अथवा वुढ़िया के या प्रतिगामी काम कहना उनकी व्यर्थ ही निन्दा करना है। यह समस्याओ को उलझा देना है। यदि मोटे तौर पर और सहानुभूति-रहित दृष्टि से देखा जाय तो जो काम फौजी स्वरूप के न हो वे सभी सुधारक काम प्रतीत होंगे, क्रान्तिकारी नहीं। किन्तु यदि लक्ष्य और उद्देश्य को न भूला जाय तो वही काम सुधारक और क्रान्तिकारी हो सकते है—सुधारक तात्कालिक परिणामो की दृष्टि से और क्रान्तिकारी भावी लड़ाई पर पड़नेवाले उनके अन्तिम असर की दृष्टि से। जब सेना लड़ाई में नही पड़ी हुई होती है और बैरको में रहती है, उस समय वह बहुतसे ऐसे काम करती है जिनके बारे में अपठित आदमी यह समझ सकता है कि उनका वास्तविक लड़ाई के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सैनिक खाइयाँ खोदते है जो पुन भर दी जाती है; वे लम्बे कूच करते है जो किसी लक्ष्य पर नहीं पहुँचते; वे निशाने मारते है, किन्तु उनकी गोलियो से कोई मरता नही। वे नक़ली लड़ाइयाँ संगठित करते है। ये सब काम यदि इसलिए बन्द कर दिये जायें कि उनका वास्तविक लड़ाई के साथ कोई खास ताल्लुक़ नही दिखाई देता तो सेना का संगठन टूट जायगा और जब प्रत्यक्ष लड़ाई का समय आयगा तो वह बेकार साबित होगी। क्रान्तिकारी दलो के भी रोजमर्रा के सुधारक कार्यक्रम होते हैं। इन कार्यक्रमो के आधार पर ही उनके बारे में फ़ैसला नही किया जाना चाहिए। यदि ऐसा किया जायगा तो वह सही फ़ैसला न होगा। शहर में रहनेवाले मजदूरो को संगठित करना होगा। यह कैसे होगा?

श्रमिक सघो द्वारा ही यह हो सकता है। अब कोई भी श्रमिक
सघ, चाहे उसका उद्देश्य कितना ही क्रान्तिकारी क्यो न हो, विशुद्ध क्रान्तिकारी आधार पर सगठित नहीं किया जा सकता। श्रमिको के रोज़मर्रा के अभाव-अभियोग ही वह आधार हो सकता है। इन अभाव-अभियोगो का क्रान्तिकारी उद्देश्य के साथ कोई ताल्लुक नहीं होता। एक अर्से तक श्रमिक सघ इसी बात की कोशिश करेंगे कि थोडा सुधार यहाँ होजाय तो थोडा सुधार वहाँ होजाय, वे चाहेगे कि थोडी मजदूरियाँ बढ जायँ, थोडे काम के घण्टे कम होजायँ और थोडी सामाजिक सुविधाओ में वृद्धि होजाय। कोई भी श्रमिक सघ एकमात्र और विशुद्ध क्रान्तिकारी आधार पर सगठित नही किया जा सकता। किसानो के सगठनो को इसी प्रकार काम करना होगा। रोज़मर्रा के कामो में वे सुधारक रहेंगे, किन्तु उनका उद्देश्य क्रान्तिकारी होगा। सभी सुधारक कामो को क्रान्ति-विरोधी और प्रतिगामी काम कहकर बदनाम करना क्रान्तिकारी आन्दोलन के विभिन्न पहलुओ को दृष्टि से ओझल करना होगा, क्योकि क्रान्तिकारी आन्दोलन तो सभी मोर्चों पर चलाना पडता है।

मुझे अभीतक कोई ऐसा समूह या दल दिखाई नही दिया जिसने गांधीजी द्वारा प्रस्तावित और कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम के बजाय अपना कोई कार्यक्रम पेश किया हो। मैंने कुछ उग्र और क्रान्तिकारी कार्यक्रमो की चर्चा सुनी है, किन्तु मैंने उनको व्यवहार में आते कही नही देखा।

गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम के एक अग—खादी की उत्पत्ति और बिक्री को ही ले लीजिए। मैंने अभीतक यह सुना नही है कि अगांधीवादी नमूने का क्रान्तिकारी साधारण खरीदार

भी बना रहने देगा। किन्तु ही वह मजदूरों की सिफारिश न करेगा, क्योंकि ऐसा करना प्रतिगामी कार्य होगा। तो क्या वह मिल के कपड़े की सिफारिश करेगा? वह ऐसा नहीं कर सकता। यदि वह करता है तो वह सर्वसाधारण के इन लोगों की कोरी मदद करने में लग सकता है जो साहूकारों और अशिक्षित मजदूरों का शोषण करते हैं, और जिनके शोषण और लाभ को रोकने की आवश्यक राजनैतिक सत्ता उनके हाथ में नहीं है। क्या वह विदेशी कपड़े की सिफारिश करेगा? और किसी बात का ख्याल न किया जाय तो भी इस प्रकार की सिफारिश का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तात्कालिक राजनैतिक स्थिति पर हानिकारक असर पड़ेगा। ऐसे अवसर यह जिक्र हुआ है कि फिर भी वह इस आशा से हिन्दुस्तानी मिलों के कपड़े की सिफारिश करेगा कि जैसे-जैसे औद्योगिक जीवन का विकास होगा, जैसे-जैसे कारखाने मजदूरों की संख्या में वृद्धि होगी, जो क्रान्ति के लिए हमेशा अच्छी सामग्री सिद्ध होती है। यदि वह इस बात की भी गारण्टी कर सके, तो उसकी दलील सुनी जा सकती है। किन्तु वह कुछ भी क्यों न करे, वह भारतीय उद्योग का विस्तार और सजीवन नहीं कर सकता। विदेशी सरकार की नीति के कारण भारतीय उद्योग कभी भी एक निश्चित सकुचित सीमा के आगे नहीं बढ़ने दिया जाता। मर्दुमशुमारी की रिपोर्टों से पता चलता है कि भारतीय उद्योग देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ आगे कदम नहीं बढ़ा सका है और अधिकाधिक लोगों को क्रमश जीवन-निर्वाह के लिए भूमि का सहारा लेना पड़ा है। सारी जनसंख्या के लिहाज से औद्योगिक जनसंख्या का औसत घटता जा रहा है।

दूसरी दलील यह पेश की जाती है कि भारतीय उद्योग को सहायता देने से हमें वह आधार मिल जाता है जिसपर हम आगे चलकर अपने औद्योगिक जीवन का निर्माण कर सकते है। किन्तु यह दलील अब काम नही दे सकती। रूस ने यह दिखा दिया है कि राजनैतिक सत्ता हस्तगत कर लेने के बाद पच या दस वर्षीय योजना द्वारा देश को पूरी तरह औद्योगिक बनाया जा सकता है। जब हमारे हाथ मे सत्ता होगी तो औद्योगिक पुर्ननिर्माण की हमारी भावी योजनाओ में आज के दकियानूसी और कमजोर उद्योग से शायद ही कोई उल्लेखनीय सहायता मिल सकेगी। अत. जिस चीज में आज गरीबो के लिए निश्चित लाभ है, उसको भविष्य के अनिश्चित लाभ के लिए छोड देना बुद्धिमानी का काम न होगा। हम पिछले अनुभव से भी लाभ उठा सकते हैं। बगभग के जमाने का स्वदेशी-आन्दोलन इसलिए विफल हुआ कि राष्ट्र ने मिलो के एजेण्टो पर विश्वास किया। मिल-एजेण्टो ने कपडे की कीमतें बढादी और राजनीतिज्ञो के उद्देश्य को विफल कर दिया। राजनीतिज्ञो ने उद्योगपतियो की सद्भावना और देशभक्ति पर ही भरोसा किया। इसका परिणाम घातक निकला। यदि हमको स्वदेशी से लाभ उठाना हो और अदेशभक्त और अदूरदर्शी पूंजीवाद के हाथो में अपने-आपको निस्सहाय न छोडना हो, तो हमारे पास दूसरे साधन भी होने चाहिएँ। खादी और ग्रामोद्योग आन्दोलनो के रूप में गांधीजी ने ये साधन हमारे लिए पैदा कर दिये है। ये आन्दोलन किसानो को अवकाश के महीनो में काम भी देते है। किस अर्थ में ये प्रतिगामी प्रवृत्तियाँ हैं? कुछ उग्र विचारक कहते है कि

८८ इन प्रवृत्तियों के कारण ग़रीबों की हालत में जो सुधार होगा, उसकी वजह से उनका क्रान्तिकारी जोश ठण्डा पड़ जायगा। यदि खादी के बारे में यह सही हो तो श्रमिक संघो की हड़तालो और दूसरी प्रवृत्तियों के बारे में भी यही बात कहनी होगी। हड़ताल आम क्रान्तिकारी उद्देश्यो के लिए कभी भी नहीं की जाती, बल्कि एक निश्चित सुधारक उद्देश्य के लिए उसका आश्रय लिया जाता है। उसके द्वारा क्रान्ति के लिए जो शिक्षण मिलता है, उसे तो केवल उप-परिणाम ही कहना चाहिए।

जहाँतक खादी और ग्रामोद्योगो का ताल्लुक़ है, गांधीजी इस बात का काफी सबूत दे सकते है कि वे खूब जाग्रत हैं। कम-से-कम जीवन-निर्वाह योग्य मज़दूरी निश्चित कर देना और वह भी राजनैतिक सत्ता के बिना, इससे बढ़कर क्रान्तिकारी काम और क्या होगा ? फिर भी गांधीजी ने अपनी सलाह और पथ-प्रदर्शन में चलनेवाले सब सगठनो में यह क्रान्तिकारी योजना जारी कर दी है। उन्होंने कार्यकर्त्ताओ और संगठनकर्त्ताओ द्वारा पेश किये गये व्यापारिक आँकड़ो के आधार पर मिली हुई विशिष्ट सलाह के विरुद्ध जाकर ऐसा किया है। उन्होंने वास्तविक तथ्यो की उपेक्षा की और अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण और उत्साह का परिचय दिया। उनको चेतावनी दी गई थी कि थोड़ी-बहुत खादी जो बच रही है वह नष्ट होजायगी, किन्तु उन्होने स्पष्टत सही और क्रान्तिकारी सिद्धान्त के लिए अपनी प्यारी योजना के विनाश को भी पसन्द कर लिया। उनका दृष्टिकोण और विश्वास सही साबित हुआ। नये प्रयोगो के कारण खादी को ज्यादा हानि नहीं पहुँची है।

अब औद्योगिक मजदूरो की बात लीजिए। उनके विचारो
के अनुसार सचालित और प्रेरित एक मजदूर-सघ है। हिन्दुस्तान में आज अहमदाबाद मिल मजदूर यूनियन से बढकर सुसगठित और आर्थिक दृष्टि से मजबूत यूनियन दूसरी नही है। किसी भी दूसरी यूनियन की अपेक्षा उसके ज्यादा वास्तविक और चन्दा देनेवाले सदस्य है। इसके अलावा शिशुगृहो, बालको और वयस्को के लिए रात्रि और दिवस पाठशालाओ, छात्रावासो, हरिजन सस्थाओ, सहयोग भण्डारो आदि के रूप में सबसे अधिक सस्थायें उसके साथ जुडी हुई है।

गांधीजी स्वराज्य के लिए आतुर होते हुए भी बडे पैमाने और स्थायी आधार पर अपनी योजनायें बनाते हैं। जब उन्होने एक साल मे स्वराज्य मिलने की बात कही थी, तब भी उन्होने दीर्घकालिक कार्य के आधार पर अपनी सस्थाओ का निर्माण और सगठन किया था। राष्ट्रीय शिक्षा, खादी, हिन्दुस्तानी-प्रचार, हरिजन-कार्य एक साल में पूरे नही हो सकते। इसलिए जो योजनायें और सस्थायें बनाई गईं, वे कई वर्षों का खयाल करके बनाई गईं। तात्कालिक राजनैतिक उद्देश्य सिद्ध नही हुआ, किन्तु सस्थायें सगठन का काम करती रही और अपने-आपको उन्नत बनाती रही। इस प्रकार उन्होने क्रान्ति की चिनगारियो को जीवित रक्खा। ये सब अग्रगामी सस्थायें है। वे असफल हो सकती है, उनको तोडा जा सकता है, पहले से नई, अच्छी और बडी योजनायें भविष्य में बनाई जा सकती है, किन्तु इन सस्थाओ से राष्ट्र को जो लाभ हुआ है, उसने जो प्रगति की है, उसकी अवगणना वही लोग कर सकते है जो राष्ट्रीय आन्दोलन का बहुत ही छिछला ज्ञान रखते है।

निन्दा या आलोचना करना बहुत आसान होता है। किन्तु जब आलोचक खुद काम करने के लिए और संगठन करने के लिए जुटेंगे तो उन्हे मालूम होगा कि सार्वत्रिक क्रान्ति के अपने व्यापक आदर्श के लिहाज से उनकी प्रवृत्तियाँ केवल सुधारक प्रवृत्तियाँ है, जिनका सम्बन्ध रोजमर्रा की उन छोटी बातो से है जो प्रकटत उद्देश्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं। क्रान्तिकारी आन्दोलन के उस स्वयसेवक के उदाहरण पर विचार कीजिए जिसको दफ्तर में लिफाफो पर टिकट चिपकाने का काम सौंपा गया है। वह अपने इस विनीत साधारण रूखे काम का दल द्वारा कल्पित भावी क्रान्ति के साथ कैसे सम्बन्ध जोड़ेगा? उसको व्यापक दृष्टिबिन्दु और किसी जीवित श्रद्धा की सहायता लेनी होगी। इस तरह ही वह यह समझ सकता है कि उसका मामूली काम क्रान्ति के लिए आवश्यक काम है। गांधीजी में वह दूरदृष्टि और आत्मश्रद्धा है जिससे कि वे सभी कामो में निहित इस सिद्धान्त को समझ सकते है। एक धार्मिक पुरुष की तरह, जो प्रत्येक आत्मा में परमात्मा के दर्शन करता है, गांधीजी हरेक छोटे सुधारक काम में, जिसे वे करते है या दूसरो को करने की सलाह देते है, स्वराज्य-देवता के दर्शन करते है। वे चाहे ब्रिटिश सिह की गर्दन को हिला देनेवाली लड़ाई के मोर्चे पर डटे हो, छोटेसे चर्खे को दुरुस्त कर रहे हो अथवा सेगाँव-जैसे छोटेसे गाँव की तग गलियो में झाड़ू लगा रहे हो, वे यही समझते है कि वे क्रान्ति के लिए कार्य कर रहे है; अपने पूर्णस्वराज्य के स्वप्न के लिए काम कर रहे है जिसमें गरीब अपने घर के खुद मालिक होगे। चूंकि वे इस आत्मश्रद्धा के साथ काम करते है, अत. अपने अनु-

पाथियो और नायो-कार्यकर्ताओ में वही आत्मश्रद्धा जाग्रत कर ९१
देते हैं।

इस प्रकार गांधीजी ने दुहेरा कार्यक्रम बनाकर राष्ट्र के सामने रक्खा है। एक कार्यक्रम तो हलचलपूर्ण और क्रान्तिकारी समयों के लिए है जब कि राजनैतिक जीवन की रफ्तार खूब तेज होती है, और दूसरा कार्यक्रम अपेक्षाकृत शान्तिमय समयों के लिए है जबकि राष्ट्रीय जीवन धीमी और साधारण हालत में होता है। किसी व्यक्ति या दल ने उन दोनो अनिवार्यतः एक के बाद एक आने-वाले समयों के लिए इससे अच्छे कार्यक्रम का आविष्कार नहीं किया है। अवश्य ही ये कार्यक्रम स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए बनाये गये हैं, शहरी मजदूरो की एकतत्री सत्ता अथवा किसानो और मजदूरो के प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए उनका निर्माण नही हुआ है। गांधीजी के कार्यक्रम और उनके स्वराज्य का यही अर्थ है कि हिन्दुस्तान की आम जनता का हित-साधन हो। गोलमेज कान्फ्रेंस में बोलते हुए उन्होने घोषित किया था कि भारतीय राष्ट्रीय महासभा का ध्येय है "विदेशी जुए से पूर्ण स्वतन्त्रता हासिल करना (प्रत्येक अर्थ में), ताकि देश के करोडो मूक अधिवासी सुखी हो सके। इसलिए हरेक स्वार्थ को जो करोडो के हितो के विरुद्ध हो, अपना रवैया बदलना होगा और यदि परिवर्तन सम्भव न हो तो खत्म हो जाना पडेगा।" यह बिलकुल सम्भव हो सकता है कि आम जनता के हित शहरी मजदूरो की एकतत्री सत्ता द्वारा ही सबसे अधिक अच्छी तरह पूरे हो सके। किन्तु गांधीजी का अभीतक यह खयाल नही है कि इस प्रकार की योजना द्वारा आम जनता का सबसे अधिक हित होगा। इस

९२ बीच मे जो लोग मजदूरो की सत्ता स्थापित करना चाहते है उनका काम है कि वे खुद अपना दुहरा तरीका खोजें और उसको केवल सिद्धान्त-रूप में ही राष्ट्र के सामने न रक्खें, बल्कि अमली रूप देकर उसकी योग्यता सिद्ध करें। जबतक इस प्रकार के कार्यक्रम सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो रूपो में हमारे सामने न आवे, बल्कि सैद्धान्तिक की अपेक्षा व्यावहारिक रूप में अधिक न आवे, तबतक हमको अपनी जगह पर ही रहने दिया जाय तो ठीक होगा। गाँधीजी ने लोगो से केवल सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तवाद और आदर्शवाद के नाम पर ही अपील नहीं की है, बल्कि उनके साथ उन्होंने अपने कार्यक्रम भी रक्खे है। उनका आदर्शवाद ससार की विचारधारा से शताब्दियो आगे रहा हो, किन्तु उन्होंने उस समय की प्रतीक्षा नही की जब कि हिन्दुस्तान की आम जनता ने उनके आदर्शवाद को अपना लिया होता। इसके विपरीत उन्होने अपने आदर्शवाद के अनुसार कल्पित काम राष्ट्र के सामने पेश करके अपने आदर्शवाद की उपयोगिता सिद्ध कर दी। उन्होने यह ठीक ही सोचा कि किसी भी आदर्शवाद के प्रचार का सबसे उत्तम तरीका यही है कि चाहे कितने ही विनम्र रूप में क्यो न हो, उसपर अमल किया जाय। इस प्रकार की महत्वाकांक्षा रखनेवाले दूसरे लोगो को भी उनका अनुसरण करना चाहिए, यदि वास्तव में वे अपने विशिष्ट आदर्शवादो के सच्चे पुजारी है। आखिर हमारे लिए गांधीजी का आदर्शवाद और अमल नया ही था। उनके साथ शामिल होने के लिए हमें भूतकाल से, अपनी विचार करने और काम करने की आदतो से, अपनी कसौटियो से एक बडी हद तक नाता तोड़ना

पडा। यदि कोई व्यक्ति या दल ज्यादा अच्छे और व्यावहारिक
कार्यक्रम हमारे सामने रक्खेगा तो यह विश्वास रक्खा जा सकता है कि हम फिर वैसा ही कर सकते है। आखिर गाँधीजी ने अपने अनुयायियो के सामने दरिद्रता और कष्ट-सहन का आदर्श रक्खा है। यदि कम कष्ट सहकर और कम त्याग करके लोगो को कुछ निश्चित फल मिल सकता हो तो वे इतने मूर्ख नही है कि ऐसे मौके को यो ही हाथ से निकल जाने दें। उनमे से कुछ अपने धन्धे और आमदनियाँ छोड चुके है और खादी तथा ग्रामोद्योगो के काम में लगे हुए है। इस काम के द्वारा गरीबो को सम्भवत एक-दो आना मिल जाता है और जब वस्तुत सत्याग्रह की लडाई जारी नही होती है तो कार्यकर्त्ताओ को काम मिल जाता है। यदि कोई उनको यह बतादे कि इस तरह काम करने से गरीबो की जेबो में एक रुपया या इससे अधिक पहुँचने लगेगा और यह भी कि विदेशी साम्राज्यवाद से लडने का अमुक तरीका ही अचूक और उत्तम तरीका है तो वे ऐसे लोग नही है जो इस प्रकार के आकर्षक प्रस्तावो को ठुकरा दे। यदि उन्होने छोटी बातो के लिए उन वस्तुओ को त्याग दिया जिनको लोग जीवन में महत्वपूर्ण खयाल करते है (अपने धधो और अपनी आमदनियो को) तो ज्यादा अच्छी और श्रेष्ठ बातो के लिए वे इससे कम त्याग न करेंगे। वे गाँधीजी के नये तरीको के योग्य शिष्य सिद्ध हुए है—ऐसे तरीको के जिन पर इतिहास में अभी तक कभी अमल नही किया गया और जिनकी पहले कोई मिसाल नही मिलती है। यदि अधिक परिचित, सुपरीक्षित और आसान तरीके उनके सामने रक्खे जायँगे तो वे निश्चय ही उनका स्वागत करेंगे। किन्तु साफ

कहा जाय तो उनको अपना रास्ता स्पष्ट नही दिखाई दे रहा है। ज्योही उनको कोई प्रकाश दीखने लगेगा, वे इन मित्रो के साथ शामिल होजायँगे, जिनसे वे आज मतभेद रखते है। इस बीच में उनको बिना किसी रुकावट के अपनी योजनाओ पर अमल करने देना चाहिए। साथ ही वे भी इस बात के लिए हमेशा तैयार है कि दूसरे समूहो को अपने खुद के आदर्शों के अनुसार अपनी योजनाओ पर अमल करने दिया जाय।

किन्तु सवाल यह पैदा होता है, कांग्रेस का सगठन किसके हाथ में रहे ? इस बारे मे भी गाँधीजी का तरीका हमें रास्ता दिखा सकता है। चम्पारन की लडाई में कांग्रेस ने गाँधीजी को मदद देने का प्रस्ताव किया था। किन्तु उन्होने अस्वीकार कर दिया। उन्होने कहा कि कांग्रेस एक बडी और महत्वपूर्ण सस्था है। वह नये और अपरीक्षित प्रयोग नही कर सकती। वह ऐसे प्रश्न पर अपनी बुद्धिमत्ता और धीरता की ख्याति की बाजी नही लगा सकती जिसमें वह बिना फलितार्थों और परिणामो का खयाल किये अनजाने उलझ सकती है। गाँधीजी ने सिर्फ नैतिक समर्थन चाहा, इससे अधिक कुछ नही। उन्होने चाहा कि कांग्रेस अपने इतिहास और विकास की मान्यता के अनुसार अपने रास्ते पर चलती जाय। सन् १९२० में वे खिलाफत के प्रश्न पर सत्याग्रह कर चुके थे। वे अपने प्रस्ताव लेकर कांग्रेस के पास आये। उन्होंने कांग्रेस से कहा कि खास सवाल को अपने हाथ में लेना सस्था के लिए अच्छा होगा, किन्तु यदि वह लेना पसन्द न करेगी तो मैं अपने रास्ते पर आगे बढना जारी रक्खूंगा। उन्होंने यह नही कहा कि जब कांग्रेस मान लेगी तभी उनकी योजनाओ पर अमल

किया जा सकेगा। एक वार फिर स्वराज्यपार्टी के जमाने में
वहुमत साथ होते हुए भी वे हट गये और स्वराज्यपार्टी वालो के लिए खुला क्षेत्र छोड दिया। इसलिए सभी दलो को अपनी-अपनी योजनायें कांग्रेस के सामने रखना चाहिए, किन्तु यदि वे योजनायें स्वीकृत न हो तो उनपर उनको अपने-आप अमल करना चाहिए और निश्चित परिणामो द्वारा लोगो का विश्वास प्राप्त करके कांग्रेस को हस्तगत कर लेना चाहिए। यह ज़रूरी नही है कि इन परिणामो से योजनाओ की सफलता साबित हो जाय, किन्तु वे ऐसे ज़रूर होने चाहिएँ जो सगठन, प्रयत्न और सफलता के द्योतक हो। वे ऐसे होने चाहिएँ जिससे शकाशील लोग देख सके कि कुछ कदम आगे बढा है। किन्तु यदि विभिन्न दिशाओं में प्रारम्भिक काम करने के बजाय कांग्रेस-सगठन को केवल ऊपर से ही हस्तगत करने की कोशिश की जायगी, तो सफल दल को शीघ्र ही मालूम हो जायगा कि ज्यादा-से-ज्यादा प्राप्त करने की आतुरता में उसने सोने का अण्डा देनेवाली मुर्गी को ही मार डाला है। आखिर कांग्रेस कोई सरकार नही है जिसके सगठन को हस्तगत करने के वाद अपने-आप सारी सत्ता हाथ में आजाती है। कांग्रेस में जो शक्ति है वह हमने ही देश मे अपने काम के द्वारा, अपने सगठन के द्वारा और अपने त्याग और बलिदान के द्वारा दी है। इसलिए जल्दबाजी करके कांग्रेस-संगठन को हथिया लेने से किसी भी दल का भला न होगा। यह सच है कि कांग्रेस की प्रतिष्ठा महान् है, किन्तु उसका उपयोग वही लोग कर सकते है जो काम करे, सगठन करे और कष्ट-सहन और त्याग करने के लिए तैयार हो। और कोई उससे लाभ नही उठा सकता।

९६ मैंने पाठकों के सामने गाँधीजी का दुहेरा कार्यक्रम अर्थात् एक तो लड़ाई का कार्यक्रम और दूसरा रचनात्मक कार्यक्रम रख दिया है। कांग्रेस के बारे में उनका क्या रुख है और वे उसको किस निगाह से देखते है, यह भी मैंने बता दिया है। इन सब बातों को हम मानते हैं। हम इस इन्तजार में है कि कोई इन तीन उपायों के बजाय अच्छे उपाय पेश करे। जब हमको उन तरीकों का पता चल जायगा तो मैं आशा करता हूँ कि गाँधीजी के पद-चिन्हों का अनुसरण करते हुए हम देश की आजादी की लड़ाई में सबसे आगे के मोर्चे पर डटे हुए दिखाई देंगे। (गाँधीजी के पद-चिन्हों के अनुसरण की बात मैंने इसलिए कही कि वे हमेशा सीखने के लिए तैयार रहते है और किन्ही कट्टर और अपरिवर्तनीय नियमों से बँधे हुए नहीं है।) हम आशा करते है कि हमने किसी खास प्रणाली अथवा सम्प्रदाय के लिए नहीं बल्कि देश की आजादी के उद्देश्य के लिए ही अपने जीवन उत्सर्ग किये है।

: ५ :

गाँधीवाद : समाजवाद

[डा० पट्टाभि सीतारामैया]

समय-समय पर नये विचारो के प्रयोगो द्वारा दुनिया के इतिहास का निर्माण हुआ है। हरेक देश का एक प्रधान सुर रहा है जो उसके अबतक के राष्ट्रीय जीवन की धाराओ की असलियत मालूम करने के लिए कुजी का काम देता है। हम यह भी देखते है कि एक देश तथा युग विशेष में प्रचलित विचार और आदर्श दूसरे देशो और दूसरे युगो में बडी तेजी के साथ फैले है। अन्तर इतना ही रहा कि एक जगह के सभी भले-बुरे सयोगो का दूसरी जगह सामना नही करना पडा। आज के जमाने में भी हम देखते है कि विभिन्न देशो और महाद्वीपो म रहनेवाले लोगो की भावनाओ और विचारो में किस कदर विचित्रतापूर्ण और शीघ्रगामी परिवर्तन हो रहे है। हमारी आँखो के आगे उदाहरण इतने अधिक और इतने स्पष्ट है कि उनको गिनाने अथवा उनकी व्याख्या करने की जरूरत नही मालूम देती।

पश्चिम में समाजवाद

किन्तु इनमें से हम एक विचार की चर्चा करेगे, जिसका हमारे उद्देश्य के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। एक जमाने में समाजवाद नास्तिकता अथवा दिमागी फितूर तक समझा जाता था। उसके आक्रमणो से अपनी सम्मानित और परम्परागत सस्थाओ की रक्षा करने के लिए विभिन्न देशो ने तरह-तरह के उपायो की योजना की। इस प्रकार वे केवल उसके आदर्शो की तीव्रता को

कम कर सके, किन्तु उसकी लहर के प्रवाह को हमेशा के लिए नही रोका जा सका। एक ओर इंग्लैण्ड में समाजवाद का विचार एक उदार विचार रहा है, जो समाज और अर्थ-व्यवस्था के पुराने आधार पर हावी होने के बजाय प्राय खुद उसका शिकार हो गया है। अवश्य ही उसका अंग्रेज-समाज पर असर पडा है, किन्तु यह कोई नही कहेगा कि अंग्रेज जाति की अर्थ-नीति अथवा उसके राजनैतिक सिद्धान्त सम्पूर्णत बदल गये है। दूसरी ओर रूस में समाजवाद के सिद्धान्तो पर पूरी तरह अमल किया गया है। उसके फलस्वरूप वहाँ के हालात में जो आकस्मिक और जबरदस्त परिवर्तन हुआ है, उसके असर ऊँची-ऊँची दीवारें खडी कर दी जाने के बावजूद दुनिया के कोने-कोने में पहुँच गये हैं।

इस प्रकार, जैसा कि बरट्रेन्ड रसल खुद स्वीकार करते है, इंग्लैण्ड में समाजवाद की ओर झुकाव रहा, किन्तु उसे एक निश्चित ध्येय के तौर पर नही माना गया। वहाँ खुद मजदूर-आन्दोलन का राजनैतिक दलबन्दी के आधार के अलावा कोई खास विरोध नही हुआ, हालाँकि वह समाजवादी दृष्टिकोण रखने का दावा करता है। निस्सन्देह समाजवाद ने शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा बढाई है और उन लोगो के लिए बौद्धिक और राजनैतिक सुविधायें सुलभ कर दी है जो अबतक दिल और दिमाग से शून्य केवल हाथ से श्रम करनेवाले मजदूर समझे जाते थे। इसके अलावा उसने कुछ रचनात्मक प्रसन्नता का भी सचार किया है, किन्तु इसके बाद उसकी गति रुक गई। वह न तो बेकारो को ज्यादा आशा का सदेश दे सका और न बाकारो को ज्यादा सुख पहुँचा सका। पश्चिम में राजकीय समाजवाद की ओर झुकाव

बढ रहा है, किन्तु इस दशा में भी सिर्फ मालिक ही बदलते हैं। मजदूर तो फिर भी गुलामी ही करता है। यह ठीक ही कहा गया है कि आत्म-प्रेरणा की मात्रा में वृद्धि होने के बजाय उससे केवल पारस्परिक हस्तक्षेप बढता है। हर हालत में समाजवाद की सभी समयसाधक योजनाओ में श्रमिक को अपने काम मे उस गौरव और प्रसन्नता का अनुभव नही होता जिसकी वह आकाक्षा रखता है। सहयोग-आन्दोलन, श्रमिक सघवाद अथवा राजकीय समाजवाद आदि सभी के बारे में यही बात कही जा सकती है। ये विभिन्न समाजवादी योजनायें हैं जो पश्चिम मे पूजीवाद की बुराइयो का मुकाबिला करने के लिए खडी की गई हैं।

अब यह भली प्रकार से और आमतौर पर मालूम हो चुका है कि पश्चिम में परिस्थितियो का जो समूह लोगो के सामाजिक और आर्थिक जीवन का नियत्रण करता है, उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया-स्वरूप समाजवाद का जन्म हुआ है। सम्पत्ति और उत्तराधिकार विषयक कानूनों ने, जो परिवार में सबसे बडे लडके का ही अधिकार स्वीकार करते हैं, नौजवानो का एक ऐसा वर्ग पैदा कर दिया है जिसमें परिवारो के सबसे बडे लडके शामिल हैं। वे ऐशो-आराम करते हैं, पूजी के उपयोग द्वारा अपनी सम्पत्ति बढाते हैं और शोषण तथा साम्राज्य निर्माण करने के लिए कटिबद्ध रहते हैं। उनके पास खूब सारी दौलत होती है और महत्वाकाक्षा की भी कमी नही होती। इसके विपरीत छुटभय्यो को समाज में खुला छोड दिया जाता है। ये लोग अपने धनी और महत्वाकाक्षी बडभय्यो की शोषण-योजनाओ को कार्यरूप देने के लिए कारगर एजेण्ट सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार कुलीन

लोगों का एक छोटा वर्ग और आम लोगों का एक बड़ा वर्ग अस्तित्व में आया है। दूसरे शब्दों में ये दोनों वर्ग पूंजीवादी और उद्योगवादी प्रणाली के एक ही चित्र के दो पहलू हैं। वास्तव में ये देश की समाज-व्यवस्था के प्रत्यक्ष परिणाम हैं।

वर्ग-विभेदों का विस्तार

आर्थिक क्षेत्र में घटनाक्रम और भी स्पष्ट है। वाष्प इंजिन के आविष्कार और चीजों के उत्पादन और निर्माण में बिजली के उपयोग के कारण पश्चिमी राष्ट्र व्यापार पर एकाधिकार जमाने, बाजार तलाश करने, राष्ट्रों को गुलाम बनाने और व्यापार तथा हथियारों की श्रेष्ठता के सहारे साम्राज्यवादी प्रणाली की रचना करने में सबसे आगे बढ़ गये हैं। शान्ति और युद्ध दोनों अवस्थाओं में ठोस और व्यापक संगठन द्वारा दुनिया का व्यापार और प्रदेश हस्तगत कर लिये गये हैं। यह संगठन कभी उद्योगवाद और कभी सैनिकवाद के रूप में प्रकट हुआ है। इसके फलस्वरूप उस प्रणाली का जन्म हुआ है जिसमें धनी को और धनी बनाया जाता है और गरीब के पास जो थोड़ा-बहुत बच रहा हो वह भी छीन लिया जाता है। इसीलिए एक ओर लन्दन के पश्चिमी कोने में गगनचुम्बी महल खड़े हो रहे हैं और दूसरी ओर पूर्वी कोने में दुर्गन्धित घर हैं, जिनमें दरिद्रता का भीषण नृत्य होता है। बेकारी बढ़ गई है, क्योंकि यह आशा नहीं की जा सकती कि विदेशी निर्यात के लिए उत्पत्ति करने के सिद्धान्त का हमेशा समर्थन होता रहेगा। गत महायुद्ध ने पूर्वकालीन अवस्थाओं को उलट दिया है और पश्चिमी राष्ट्रों में विद्रोह की लहर उठ खड़ी हुई है।

इंग्लैण्ड ने परम्परागत दूरदृष्टि से काम लेकर मजदूरों, व्यवसाय-संघों और समाजवाद की लहर को रोकने के लिए कई दीवारें खड़ी की हैं। दरअसल मजदूर-आन्दोलन का पिछले पचास-वर्षों का इतिहास यह बताता है कि इंग्लैण्ड ने, जो योरप का सबसे अधिक उद्योगवादी राष्ट्र है और दुनिया के राष्ट्रों में सबसे ज्यादा कट्टर है, समयानुकूल रियायतें देकर किस प्रकार समाजवाद का मुकाबिला किया है। उदाहरणार्थ उसने बालिग-मताधिकार जारी किया, व्यवसाय-संघों को स्वीकार किया, हड़तालियों को रियायतें दीं, बुढ़ापे की पेन्शनों, प्रसूतिकालीन सुविधाओं और बीमारी के बीमों की व्यवस्था की, भारी उत्तराधिकार-कर, अतिरिक्त आयकर और पूँजी पर कर लगाये और बेकारों को बेकार वृत्तियाँ दीं। जहाँतक आमलोगों का सम्बन्ध है, इन रियायतों की अब आखिरी सीमा पहुँच चुकी है। इसके विपरीत उच्च श्रेणी के लोग अर्थात् नेता, जो समाजवादी सूत्रों के हामी रहे, कट्टरवाद की गोद में छिपकर खत्म हो चुके हैं। इंग्लैण्ड आज एक बड़ी क्रान्ति के मुहाने पर खड़ा है। हम आज यह नहीं कह सकते कि उसके फलस्वरूप फासिज्म की स्थापना होगी या समाजवाद की। किन्तु परिस्थिति पर सावधानी के साथ निगाह रक्खी जाने की जरूरत है।

योरप की तानाशाही हुकूमतें

इंग्लैण्ड में उद्योगवाद की बुराइयों के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने इतना अरुचिकर रूप धारण नहीं किया, किन्तु योरप के अन्य राष्ट्रों ने कम कट्टर अथवा अधिक उग्र संहारक तरीके अख्तियार किये हैं। हिटलर ने समाजवाद के साथ शुरुआत की और

उचित सुधारों के साथ उद्योगवाद की गति तेज करने के लिए तानाशाही हुकूमत की स्थापना की। इटली ने राजतन्त्र की ओट में जो मार्ग ग्रहण किया, वह तानाशाही से कुछ ज्यादा भिन्न नही है, किन्तु वहाँ की संस्थाओ ने हिंसा को उस हद तक नही अपनाया जिस हदतक हिटलरवाद ने अपनाया है। रूस ने एक कदम और आगे बढकर जार और उसके परिवार को मौत के घाट उतार दिया, निजी सम्पत्ति और निजी विदेशी व्यापार को उठा दिया और उस दल के द्वारा शासन चला रहा है जिसकी सदस्य-संख्या कुल आबादी का सौवाँ हिस्सा भी नही है। हाँ, रूस का उद्देश्य अपने-आपको स्वावलम्बी बनाना है, और इसके लिए उसने उद्योगवाद को उसकी बुराइयाँ दूर करते हुए अपनाया है। इस प्रकार हर उदाहरण में, बीसवी शताब्दी मे योरप के विभिन्न राष्ट्रो की सामाजिक और आर्थिक प्रणालियो में जो परिवर्तन हुए है, वे उन देशो में प्रचलित पुरानी प्रणालियो के प्रत्यक्ष परिणाम है; इतना ही नही, उनको प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। लोगो ने लम्बे अर्से तक सहन किया और खूब सहन किया, और अब उसके विरुद्ध विद्रोही बन गये है।

इन बातो से मालूम होगा कि प्रत्येक देश में जहाँ समाजवाद ने या उससे सम्बन्धित और किसी वाद ने सिर उठाया है, वहाँ प्रत्यक्षत. सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो के कारण ही ऐसा हुआ है। बहुतसे स्थानो में निराशा के भीतर से आन्दोलन पैदा हुआ और लोगो के असन्तोष ने अमुक आदर्शवाद से प्रेरित होकर श्रेष्ठतर समाज-व्यवस्था और आर्थिक संगठन की रचना की, जिसकी कल्पना आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्था में सम्म-

वत. मुश्किल से ही किसीने की हो। हिन्दुस्तान में भी सर्वत्र
इसी प्रकार का असन्तोष विद्यमान है। इसलिए सरल आलोचक की निगाह में वही उपाय तत्काल आ जाते हैं जिनको पश्चिमी राष्ट्रो ने अपनाया है।

हिन्दुस्तान के हालात

किन्तु यदि हम अपने यहाके हालात पर कुछ विस्तार के साथ गौर करेगे तो यह मालूम करना मुश्किल न होगा कि पश्चिम की उन परिस्थितियो में, जिनके कारण वहाँ विद्रोह की हलचले शुरू हुई, और पूर्व अर्थात् हिन्दुस्तान की परिस्थितियो मे व्यापक और मौलिक भेद हैं। हमारे देश में पश्चिम सरीखा उद्योगवाद नही है। आखिर सारे हिन्दुस्तान के शहरो में कल-कारखानो से सम्बन्धित जन-सख्या १५ लाख ही तो है। और हमारी कुल आबादी ३५ करोड है, जिसमें से प्राय. नौ-दसाश लोग खेती के धन्धे पर निर्वाह करते है। बम्बई के मजदूर भी अशत खेतीहर आबादी में से निकले हुए है। वे आस-पास के गाँवो से वहाँ इकट्ठे होगये है। व्हिटले कमीशन ने इस प्रकार के मिश्रित शिक्षण के लाभ को महसूस किया है, हालाँकि विशुद्ध औद्योगिक दृष्टिकोण से यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि इस प्रकार की व्यवस्था दुधारी तलवार का काम देती है।

कुछ भी हो, यह सत्य है कि नौ-दसाश लोग अब भी गाँवो मे रहते हैं। उनकी किस्मत अपने गाँवो के साथ गुथी हुई है। वस्तु-स्थिति यह होने पर भी राजनैतिक क्षितिज पर शहरो की समस्याये ही निस्सन्देह ज्यादा अकित होती है। किन्तु जब नये आन्दोलन जारी किये जारहे है, यह अच्छा होगा कि हम ज्यादातर

अपनी आँखों के आगे आनेवाले दृश्यो के साथ वह जाने के बजाय स्थिति की वास्तविकताओ को भी समझ ले। बुद्धिमान आलोचक समाज की परिस्थितियो का अध्ययन करेगा और इस बात का खुद ही निर्णय करेगा कि जो इलाज बताया जाता है वह वर्तमान परिस्थितियो के कहाँतक अनुकूल है।

हम देख चुके है कि पश्चिम में किस प्रकार उद्योगवाद का असर लोगो पर क्रमश कमजोर होता गया है। दो राष्ट्रो ने, जो उसके सबसे खराब पुजारी रहे है, अर्थात् इग्लैण्ड और जर्मनी ने, कटु अनुभव के बाद यह महसूस किया कि हमेशा के लिए आयात की अपेक्षा विदेशी निर्यात पर निर्भर रहना असम्भव होगा। जहाँ-तक इन देशो का सम्बन्ध है, निर्यात तैयार माल का होता है और आयात कच्चे माल और खाद्य-सामग्री का होता है। यदि औद्योगिक मनोवृत्ति रखनेवाला हरेक राष्ट्र उद्योगवाद के सिद्धान्त पर चलकर समृद्ध होना चाहे तो उसको हमेशा अपना तैयार माल दूसरे देशो को भेजना होगा। किन्तु न केवल स्वावलम्बी होने की बल्कि निर्यात करने की वही लगन दूसरे राष्ट्रो पर भी हावी हो सकती है। उस दशा में सतत प्रतिस्पर्द्धा का क्रम शुरू हो जायगा और हरेक राष्ट्र ज्यादा-से-ज्यादा बेचना और कम-से-कम खरीदना पसन्द करेगा। जब सभी राष्ट्रो की ऐसी प्रवृत्ति हो जाती है तो उनको बाजार नही मिलते और उन्हे दूसरी निर्बल जातियो का शोषण शुरू करना पडता है।

पूर्व का शोषण

अबतक पश्चिमी राष्ट्रो के लिए पूर्व शोषण का अच्छा क्षेत्र रहा है। किन्तु जब जापान पश्चिम के सर्वोपरि औद्योगिक राष्ट्रो

का सफलतापूर्वक मुकाबिला करने लगा है, जब चीन युगो की
शिथिलता छोड चुका है और हिन्दुस्तान में नवीन राष्ट्रीय चेतना प्रस्फुटित हो रही है, जब अफगानिस्तान प्रगतिशील राष्ट्रो के साथ कदम बढा रहा है, फिलस्तीन और सीरिया पश्चिम के हाल के आक्रमणो से बचकर तेजी से उठ रहे है, और जब तुर्किस्तान योरप का बीमार और मिश्र विदेशी राष्ट्रो का खिलौना नही रहा, तब यह कहा जा सकता है कि इग्लैण्ड और जर्मनी के लिए शोषण का क्षेत्र कम-से-कम रह गया है। सौभाग्य से फ्रास इस स्थिति में है कि वह अपनी औद्योगिक और कृषि की पैदावार का सतुलन कर सकता है। इटली औद्योगिक की अपेक्षा कृषि-प्रधान देश अधिक है। वह भी उन क्षेत्रो में स्वावलम्बी बनने की तेजी के साथ कोशिश कर रहा है, जिनमें वह पिछडा हुआ था।

इन सबसे रूस का उदाहरण भिन्न है। उसने अकेले और सफलतापूर्वक लडाई लडी है। उसने उत्पादन की जबरदस्त योजना बनाकर अपनी सब जरूरतें स्वय ही पूरी की है। उसने न केवल कल-कारखाने ही बनाये, विशाल धौंकनियाँ और भट्टियाँ ही बनाईं, बल्कि मास की आयात बन्द करने के लिए प्रथम पांच वर्षो में एक करोड खरगोशो का लालन-पालन किया। उसने विदेशी व्यापार का दरवाजा भी बन्द कर दिया है। विदेशी व्यापार की मात्रा घटाकर कम-से-कम करदी है। जो थोडा-बहुत व्यापार होता है वह राज्य की मारफत होता है, ज्यादातर चीजो के विनिमय के लिए होता है और तभी होता है जब रुपये की अनिवार्य आवश्यकता होती है।

इस प्रकार पश्चिम के राष्ट्र स्वावलम्बी बनने के लिए मजबूर

हो गये हैं। उदाहरणस्वरूप हमने पढा कि जर्मनी को इस साल सर्दी में अपनी चीजो का हरेक व्यक्ति के लिए निश्चित बँटवारा कर देना पडेगा, क्योंकि वहाँ निर्यात से आयात का खर्च पूरा नही हो पाता है। इस प्रकार यदि पश्चिम के राष्ट्र अपने पूर्वी बाजार खो चुके है और अपना तैयार माल आपस मे एक-दूसरे को नही बेच सकते तो उन सबको आत्म-निर्भर और स्वावलम्बी बनना पडेगा। जब यह स्थिति पैदा हो जायगी तो निर्यात के लिए चीजो का बनना बन्द हो जायगा, स्थानीय खपत के लिए उत्पत्ति होती रहेगी और लोग इस बात को कभी मजूर न करेगें कि एक आदमी तो माल पैदा करे और वे लाखो की सख्या में माल का उपयोग कर उत्पादक के लिए मुनाफे या दौलत का ढेर लगावे और गगनचुम्बी महलो का निर्माण करके खुद तग और अधेरी कोठरियो में पडे रहे। जब बडे पैमाने पर माल तैयार होना बन्द हो जायगा, तो श्रमिको को मजदूरी न मिलेगी। उस दशा में बेकारी का यही इलाज होसकता है कि या तो सहयोगात्मक पद्धति पर उत्पत्ति का मुनाफा बाँट लिया जाय या प्राचीन गृह-उद्योगो का आश्रय लिया जाय। इस प्रकार शायद हम थोडे सुदूर भविष्य की कल्पना कर रहे है, किन्तु जब हम राष्ट्रो के भाग्यो की कल्पना कर रहे हैं और सारे भविष्य की ही योजना बना रहे है तो यह अच्छा होगा कि हम धुधलेपन की अपेक्षा गहराई से दूर तक देखने की कोशिश करे।

हिन्दुस्तान का सामाजिक-आर्थिक संगठन

डेढ शताब्दी तक अकल्पित समृद्धि और अप्रत्याशित कष्ट-सहन के बाद योरप नेम हसूस किया कि आत्म-निर्भरता और

स्वालम्बन का आदर्श अनिवार्य है और यह कि गृह-उद्योग और १०.
हाथ की दस्तकारियो की ओर लौटना होगा। सौभाग्य से यह
आदर्श ही हिन्दुस्तान की युगो पुरानी समाज-व्यवस्था का मूल
आधार है—उस व्यवस्था का जो समय और परिस्थितियो की
टक्करे झेलने और लगातार आततायी आक्रमणो का सामना
करने के बाद आज भी जीवित है। भूतकाल मे हमारे यहाँ भी
शहर बसे हुए थे जो दुनिया के काफिलो के लिए मोती और सोने
के बाजार थे। वे देश में दौलत लाते थे, आजकल के शहरो की
तरह देश की दौलत को खीच नही ले जाते थे। किन्तु हिन्दुस्तान
प्रधानत गाँवो का मुल्क है, क्योकि सात लाख गाँवो के मुकाबिले
में दर्जन दो दर्जन शहरो और हजार दो हजार कस्बो की क्या
गिनती? हमारे गाँवो मे बिखरे हुए झोपडे नही है, बल्कि उनमें
एक ही किस्म की सुगठित सुविभाजित आबादी बसी हुई है, सभ्य-
जीवन के लिए आवश्यक हर दस्तकारी का उसमें समावेश है।
गाँवो में बढई और लुहार, राज और सुनार, कतवैया और जुलाहा,
छीपा और रगसाज, धोबी और नाई, मोची और किसान, कवि
और लेखक सभी रहते है। ये सब मिलकर गाँव को राष्ट्र की
स्वाश्रयी और स्वावलम्बी इकाई बना देते है। ऐसी दशा में आवा-
गमन के साधन बन्द होजायें अथवा गाँव बाढ या सेना से घिर
जाय तो भी उसका क्या बिगडे?

हमारे लिए यह खासतौर पर सौभाग्य की बात है कि हम
ऐसे सामाजिक और आर्थिक सगठन के धनी है जिसके लिए
पश्चिमी राष्ट्रो को खोज करनी पड़ी और जिसके पुनरुद्धार के
लिए उनको मुश्किल का सामना करना पड रहा है। यह ऐसा

सगठन है जो सबके लिए काम सुलभ करता है और सबके लिए काम सुलभ करने का अर्थ हुआ हरेक के लिए भोजन और वस्त्र की व्यवस्था करना। जब भोजन और वस्त्र की व्यवस्था होगई तो बाद में अवकाश भी मिलेगा। अवकाश ज्ञान और सस्कृति प्राप्त करने का अवसर देता है और मनुष्य के लिए उच्चतर जीवन का, आत्मतुष्टि का द्वार खोल देता है। गाँवो में न केवल सबके लिए काम की ही व्यवस्था की गई है, बल्कि धन्धो को प्राय वशपरम्परागत बना दिया गया है ताकि हस्तकौशल और बौद्धिक प्रतिभा सुरक्षित रह सके। यही वजह है कि हिन्दुस्तानी दस्तकारी को इतना महत्व प्राप्त हुआ, आज भी प्राप्त है और जुलाहे और कुम्हार तत्त्ववेत्ता बन सके। कारीगरो की पचायते पता नही यहाँ कितने अर्से से कायम है जो न केवल उत्पादन की मात्रा पर ही अकुश रखती है, बल्कि चीज़ो की अच्छाई-बुराई पर भी निगाह रखती है। इसीलिए सस्ती और रद्दी चीज़े बनाना, पश्चिम जैसा दिखावटी किन्तु बेकार माल तैयार करना गुनाह ही नही पाप समझा जाता है। दस्तकारियो में न केवल कला का ही खयाल रक्खा जाता है, बल्कि धार्मिक श्रद्धा-भक्ति का आदर्श सामने रहता है। इस प्रकार धार्मिक निषेध प्रतिस्पर्द्धात्मक प्रणाली की अनैतिकताओ पर वाछनीय अकुश का काम करते है। सक्षेप में, हमारे गाँव सहयोगी परिवारो के समूह है जहाँ व्यक्ति समाज के लिए और समाज व्यक्ति के लिए काम करता है।

सावधानी की ज़रूरत

अत हिन्दुस्तान की वर्तमान परिस्थितियो में समाजवाद की

योजना लागू करने के प्रश्न पर विचार करते समय हमको इस
वात से प्रभावित न होना चाहिए कि कुछ उद्योगपतियो ने मजदूरो को चूसा है अथवा अधिकतर जमीदारो ने किसानो का शोषण किया है। इन परिस्थितियो का बेशक हमको सामना करना पड़ेगा, किन्तु देश की जरूरतो का फैसला करते समय यदि हमने उनको अपनेपर हावी होजाने दिया तो हम अपना सतुलन खो देंगे। यह हमारी खुशकिस्मती है कि हम ऐसे सामाजिक और आर्थिक सगठन के उत्तराधिकारी है जिसमें रुपये और सस्कृति के बीच बराबर साम्य कायम रक्खा गया है। उसमे ज्ञान कमाने का नही सेवा का साधन माना जाता है, और यह निर्देश किया गया है कि सम्पत्तिवान ज्ञानवान लोगो का निर्वाह करे। विद्या का दरिद्रता से नाता जोड़ा गया है और धन को समाज में दूसरा स्थान दिया गया है। समाजवाद केवल पैसे की प्रधानता के खिलाफ बगावत है, किन्तु जिस समाज-व्यवस्था में पैसे को प्रधानता नही दी गई, वहाँ इस बगावत की क्या जरूरत रह जाती है ?

दरअसल भारतीय समाज का निर्माण ही उस विद्रोह के फलस्वरूप हुआ है। वह युगो की कसौटी पर सफल सावित हुआ है, और इसलिए उसकी एक वार फिर परीक्षा की जानी चाहिए। समाज के सगठन का आधार पैसा नही, सेवा है और यह नया माप प्रस्तुत करता है। यह प्रेम का परिचायक और सयुक्त जीवन का स्तम्भ है। जहाँ सेवा मानवी सम्बन्धो का मूल आधार होती है, वहाँ प्रेम जीवन का स्रोत सिद्ध होगा। उसी के वल पर वास्तव में सेवा की भावना कायम रह सकती है। और जब प्रेम और सेवा समाज के आधार बन जायँगे तो शक्ति और धन को

वाद में स्थान मिलेगा। शक्ति का स्थूल स्वरूप पैसा है। पश्चिम में शक्ति और पैसा ही समाज के आधार है। उनके कारण वहाँ वर्गों और आमजनता मे सघर्ष है, प्रतिस्पर्द्धा की भावना सर्वव्यापी हो रही है, भौतिक सम्पत्ति की भूख वढी हुई है, वाजारो की तलाश है और सैनिकवाद की भावना जोरो पर है। उनको हटा दीजिए या उनका प्रभाव कम-से-कम कर दीजिए, आप ऐसे समाज की रचना कर सकेंगे जो दूसरे समाजो से सर्वथा भिन्न होगा। एक शब्द मे कहे तो हम अपने प्राचीन समाज पर पुन पहुंच जावेगे। अवश्य ही उसपर धूल चढ गई है। योरप के इस आदर्श ने कि ज्ञान पैसा कमाने का साधन है, विद्या के पूर्वी आदर्श को भ्रष्ट कर दिया है। पिछली शताब्दि मे सत्ता और अधिकार की भूख ने मानव-स्वभाव को पतित कर दिया है, हालाँकि सत्ता और अधिकार वास्तव में सेवा केही साधन है। यह जो जग लग गया है, भ्रष्टता आगई है, विगाड़ पैदा होगया है, उससे हमको अपनी रक्षा करनी होगी और भीतरी धातु को गलाकर, जलाकर साफ करना होगा। जाति-प्रथा लोगों की परम्परागत शक्तियों की रक्षा करने के वजाय लड़ाई-झगड़े का दूसरा रूप वन गई है। कुछ अर्से से ब्रिटेन के सरक्षण में राजनीति को जातिगत और समुदायगत रूप दे दिये जाने के कारण उसका और भी पतन हो गया है। अत यह हमारा तात्कालिक काम है कि हम अपने वर्ण और आश्रम के आदर्शों का पुनरुत्थान करे और उनमें उनके धर्म की प्रस्थापना करे।

गाँधीवाद

जव किसी जमाने में जव कोई वडा आदमी पैदा होता है तो

यह निश्चितरूप से नही कहा जा सकता कि उस आदमी ने जमाने को बनाया या जमाने ने उस आदमी को बनाया है। जहाँतक गाँधीजी और भारतीय समाज का ताल्लुक है, हम यह मान सकते है कि दोनो का एक-दूसरे पर प्रभाव पडा है। समाज की परिस्थितियो ने गाँधीजी के मानस का पुनर्निर्माण किया है और गाँधीजी ने अपने व्यक्तित्व की छाप भारतीय समाज पर लगा दी है। उन्होने एक नये धर्म का विकास किया है जो हिन्दू-समाज के चार वर्णो और और चार आश्रमो के अलग-अलग धर्मों का साम्मिश्रण है। गाँधीजी ने अपने व्यक्तित्व में किसान और जुलाहे के, व्यापारी और व्यवसायी के, युद्ध करने और रक्षा करनेवाले क्षत्रिय के और अन्तत' लोकसेवक गुणो का एकसाथ समावेश किया है। सेवा और प्रेम के द्वारा वे स्मृतिकर्त्ता और सूत्रकार के दर्जे तक पहुँच गये है। उन्होने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी के धर्मो को भी एक साथ अपनाया है। उन्होने जीवन के आदर्शो का, जो एकान्तिक समझे जाते थे, सामजस्य और समन्वय कर दिया है और उनको व्यापक और सर्वांगीण बना दिया है।

गाँधीजी, अनुभव करते है कि आज चार वर्णों का अस्तित्व नही रहा है, इसलिए जो लोग वर्णो को मानते है उनका यह कर्त्तव्य है कि वे पवित्रता और सयम के सर्वोपरि सिद्धान्तो का पालन करके उनकी पुनर्स्थापना करे। उन्होने हिन्दू-समाज की शुद्धि करने की कोशिश की है, सोने पर जो आवरण चढ गया है उसको हटाने का प्रयत्न किया है। वे एक बार फिर सेवा और प्रेम के आधार पर समाज की पुनर्रचना करना चाहते है।

"सर्वजनाः सुखिनो भवन्तु" इस प्रार्थना का आदर्श उन लोगो के सामने फिर से पेश किया गया है जो दिन में तीन बार मत्रो का उच्चारण करते है किन्तु उनका अर्थ कुछ नही समझते। इस दृष्टि से गांधीजी के स्वराज्य का अर्थ सत्ता और शक्ति का उपयोग नही है, बल्कि प्रेम और सेवा के आदर्श के प्रचार द्वारा सबके लिए भोजन और वस्त्र सुलभ करना है। किन्तु भोजन और वस्त्र आकाश से नही गिर पडते, उनके लिए मेहनत-मजदूरी करनी पडती है। इस उद्देश्य के लिए गांधीजी ने शरीर-श्रम का उपदेश दिया है और प्रत्येक स्त्री, पुरुष और बच्चे के लिए कातना दैनिक यज्ञ करार दे दिया है। इस प्राचीन देश की विशाल मानवशक्ति में, जिसकी आबादी चीन से कुछ ही कम है, उन्होंने धन-दौलत का अभूतपूर्व स्रोत ढूढ निकाला है। यह स्रोत व्यापार के सतुलन पर, बाजारो पर, साम्राज्यवाद और सैनिकवाद पर, विनिमय अथवा मुद्रा के पराभव और विस्तार पर अथवा वैज्ञानिक आविष्कारो और अन्वेषणो पर निर्भर नही करता है। यत्रो की प्रतिस्पर्द्धा से इस मूलभूत स्मृद्धि के लिए कोई खतरा पैदा नही होता, क्योकि सादा जीवन और उच्च विचार, कडी मेहनत और ईमान की कमाई का सादा आदर्श उसका आधार है।

गांधीजी का मार्ग नकारात्मक मार्ग नही है। वह बड़ी ताकत अथवा बड़ी प्रतिस्पर्द्धा के आगे झुकने का तो मार्ग है ही नही। जब विचार अनुकूल होते है और दिल में प्रेम पैदा हो जाता है तो मा की ओर से मिली हुई तुच्छ-से-तुच्छ चीजें अमूल्य हो जाती है और वे विदेशो से आने वाली बढिया-से-बढ़िया चीजो के मुकाबिले में खडी रह सकती है। इसके विपरीत गांधीजी ने

तो चीजें तैयार करने का बड़ा सस्ता तरीका बता दिया है। वह ११३
इस प्रकार कि जो श्रम ठेके पर नही किया जाता, बल्कि अवकाश के समय और प्रेम की खातिर किया जाता है, उसके मूल्य का हिसाब नही लगाया जाना चाहिए। इस प्रकार मालूम होगा कि भोजन और वस्त्र के मामले में, जो मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता है, गाँधीजी प्राय स्वावलम्बन के पक्षपाती है। जहाँ व्यक्ति स्वावलम्बी है, वहाँ गाँव स्वावलम्बी है, कस्बे स्वावलम्बी हो जायेंगे और शहरो की वृत्ति स्वावलम्बन की ओर रहेगी। यह सब रक्त बहाकर, शक्ति के जोर से, न होगा। इसके लिए अधिकारो पर निरन्तर आग्रह करने के बजाय सीधी तरह कर्त्तव्यं को अपनाना होगा, जबरदस्ती श्रम करने के बजाय स्वेच्छापूर्वक श्रम करना होगा, ताकत के बजाय प्रेम से काम लेना होगा, महत्वाकाक्षा के बजाय सन्तोप धारण करना होगा, जीवन-निर्वाह का माप बढाने के बजाय घटाना होगा, मौज-शौक के बजाय सयम का पाठ पढना होगा और कूटनीति अथवा दम्भ के बजाय सत्य का आश्रय लेना होगा।

गाँधीवाद बनाम समाजवाद

यदि समाजवाद का उद्देश्य सबको समान सुविधायें देना है, तो गाँधीवाद का यह उद्देश्य है कि हरेक आदमी अपने समय और सुविधाओ का उच्च उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करे। यदि समाजवाद पूंजी-कर, भारी अतिरिक्त आयकर, जब्ती और शक्ति द्वारा सम्पत्ति को स्थानच्युत करता है, तो गाँधीजी युगो पुरानी परम्परा का आह्वान करते है, जिसने अमीरी के मुकाबिले में निर्धनता को और मन के मुकाबिले में ज्ञान को महत्व दिया है।

११४ यदि समाजवाद अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्य की सहायता लेता है, तो गांधीवाद अपनी सफलता के लिए प्रत्येक नागरिक के अन्तःकरण की उन्नति और संस्कृति के विकास पर विश्वास करता है। समाजवाद के वाहर से लादे हुए परिणाम दिखने में शानदार मालूम देते है, किन्तु वे वास्तव में अनिश्चित और खतरे से परिपूर्ण होते हैं। गांधीवाद के परिणाम जो छोटे दिखाई देते हैं, लोगो की सद्भावनाओ के आधार पर मजबूत और गहरी जडें जमा लेते हैं। समाजवाद को यह दुःखद दृश्य देखना पड़ा कि उसके पुजारी अपने सिद्धान्तो और शक्ति को स्थिर रखने के लिए तानाशाह वन गये। गांधीवाद स्वेच्छापूर्वक स्वार्थत्याग करने में विश्वास करता है। उसने सागली के ठाकुर, ढसा के दरवार गोपालदास देसाई और कालाकांकर (संयुक्तप्रान्त) के राजा जैसे आदमी पैदा किये हैं। अधिकाश लोगो के लिए समाजवाद एक वृत्ति है, किन्तु गांधीवाद कठोर सत्य है। समाजवाद दूसरो को उपदेश देता है, गांधीवाद हरेक आदमी को उसका कर्तव्य सुझाता है। समाजवाद घृणा और फूट द्वारा मानवता का प्रचार करना चाहता है; गांधीवाद मानव-सेवा के लिए घृणा और फूट का त्याग करता है। समाजवाद ऐसे देश की खाद्य-सामग्री को इकट्ठी करता है जहांके कुछ भाग वंजर हैं और फिर उस सामग्री को बांट देता है, गांधीवाद ऐसे देश में जहाँ हर तरह की मिट्टी और सतह मौजूद है और हर तरह की जलवायु और परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, हरेक आदमी से अपना भोजन-वस्त्र खुद पैदा करने का आग्रह करता है; समाजवाद मजदूरी का हिसाव रखता है और हरेक आदमी को राज्य के लिए श्रम करने

को विवश करता है, गाँधीवाद दुनिया को इस बात की श्रेष्ठता बताता है कि व्यक्तियो के प्रत्येक समूह की परम्परा के अनुसार उस समूह के हरेक स्त्री-पुरुष को अपने और अपने परिवार के लिए काम करना चाहिए। समाजवाद ऐसे समाज में, जहाँ परिवार के भीतर भी असमानता का बोलवाला है, सम्पत्ति का समान विभाजन करना चाहता है, गाँधीवाद हिन्दुओ के उत्तराधिकार विषयक कानूनो से लाभ उठाता है, जिनके अनुसार सभी लडके पिता की सम्पत्ति के समान हकदार होते है और मुसलमानो में तो लडकियो को भी उचित हिस्सा मिलता है। समाजवाद पश्चिम की समाज-व्यवस्था के गोलमाल का इलाज हो सकता है, किन्तु गाँधीवाद समाज के ऐसे सगठन और कर्त्तव्यो को व्यक्त करता है जिनकी ऋषियो ने हजारो वर्षों पहले रचना की थी और जिनको आज दूसरा ऋषि पुनर्संगठित कर रहा है। इसीलिए तो गाँधीजी ने कराची में कहा था—

"गाँधी मर सकता है, किन्तु गाँधीवाद अमर रहेगा।"

: ६ :

गाँधीवाद और समाजवाद

[लेखक—श्री के० सन्तानम]

मुझे इस खयाल के लिए कोई वजह नहीं मालूम होती कि गाँधीवाद और समाजवाद तत्त्वज्ञान की दो प्रतिस्पर्धी प्रणालियाँ हैं अथवा वे समाज के पुनर्संगठन की एक-दूसरे से भिन्न योजनायें हैं। मुझे इस बात में बड़ा नुकसान दिखाई देता है कि हमारे नौजवान विचारक और कार्यकर्त्ता यह मानकर चले कि उनको दोनों में से किसी एक को पसन्द करना होगा। गाँधीवाद और समाजवाद ये दो शब्द जिन विचारों के द्योतक हैं, उनको हिन्दुस्तान के दो सर्वप्रथम नेताओं ने निश्चित रूप में देश के सामने पेश किया है; और जब महात्मा गाँधी और पण्डित जवाहरलाल नेहरू कुछ मतभेदों के होते हुए भी निकटतम सहयोग के साथ काम कर रहे हैं, तब हम दोनों प्रणालियों को आदर्शों और तरीक़ों की भिन्नताओं पर ज़ोर देने के बजाय क्यों न उनके बीच में कोई-न-कोई सामञ्जस्य खोजने की कोशिश करें?

इसमें कोई शक नहीं कि दोनों प्रणालियाँ पहली नज़र में बिलकुल विरोधी प्रतीत होती हैं। समाजवाद का यह दावा है कि वह मानव-जाति के ऐतिहासिक विकास के सूक्ष्म विश्लेषण पर खड़ा है; गाँधीवाद अपनी कल्पना के अनुसार उस विकास के लक्ष्य को अपना आधार मानकर चलता है। पहला बहिर्मुखी है और दूसरा अन्तर्मुखी। एक भौतिकवादी है और दूसरा आदर्शवादी। समाजवाद बुद्धिवादी होने में गर्व अनुभव करता है

और गाँधीवाद मूलत धार्मिक है। समाजवाद भाफ और बिजली द्वारा सचालित उद्योगो और आधुनिकता की जोरो से वकालत करता है, किन्तु गाधीवाद गृह-उद्योगो को पहली जगह देना चाहता है। समाजवाद यान्त्रिक कुशलता पर जोर देता है और गाँधीवाद व्यक्तिगत चरित्र को समाज-पुनर्रचना का मुख्य आधार मानता है। दोनो की सभी विभिन्नताओ को एक शब्द मे कहा जाय तो समाजवाद को "वैज्ञानिक भौतिकवाद" और गाँधीवाद को "क्रियाशील आदर्शवाद" कहा जा सकता है।

इस बात पर विचार करने के पहले कि क्या यह विरोधाभास उतना ही मौलिक है जितना कि पहली नजर मे दिखाई देता है, यह उपयोगी होगा कि मै उन बातो को सक्षेप मे लिख दूँ जिनको मै दोनो के मुख्य सिद्धान्त मानता हूँ।

गाँधीवाद

गाँधीवाद, जैसा कि मैने उसको समझा है, इस मौलिक आधार को लेकर चलता है कि मानव विकास का सर्वोपरि उद्देश्य है आत्मा की आध्यात्मिक पूर्णता। इसका निश्चय ही यह मतलब नही है कि मानव-शरीर अथवा मन या उन सामाजिक परिस्थितियो की उपेक्षा की जाय जो शरीर और आत्मा दोनो की स्वस्थता के लिए आवश्यक है। गाँधीवाद के अनुसार शरीर, मन और आत्मा के बीच में कोई विरोध नही है। किन्तु वह मानता है कि आत्मा अथवा आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए शरीर और मन का कडा नियमन आवश्यक है। गाँधीवाद खुराक और दैनिक जीवन-क्रम पर, विचारो और शब्दो की मितव्यमता पर, बडा जोर देता है। सबसे अधिक वह शरीर की स्वस्यता के लिए,

मन की शुद्धता के लिए और आत्मा की प्रसन्नता और पूर्णता के लिए, जो कि मानव प्रयत्नों का महान् उद्देश्य है, यह बिलकुल आवश्यक समझता है कि विकारों को वश में रक्खा जाय।

उपर्युक्त मौलिक कल्पना से तत्काल अहिंसा का सिद्धान्त सामने आजाता है। अव्यवस्थित विकार और स्वार्थपरता ही हिंसा की जड़ें हैं। इनके साथ निरन्तर जीवनपर्यन्त संघर्ष करते रहना आन्तरिक विकास की अनिवार्य शर्त है। यह संघर्ष ढीला पड़ा नहीं कि अपने-आप जड़ता आजाती है और पतन होने लगता है। जहाँ अहिंसा के सिद्धान्त का नकारात्मक रूप यह है कि हम अपनी घृणा करने, दबाने और सताने की वृत्तियों और इच्छाओं को धीरे-धीरे कम करें, वहाँ अहिंसा के सिद्धान्त के अनुसार यह भी कम ज़रूरी नहीं है कि विशुद्ध प्रेम और निःस्वार्थ कर्म का अभ्यास किया जाय।

गांधीवाद के अनुसार समाज को इस प्रकार संगठित किया जाना चाहिए कि उसके सदस्यों को ऊपर लिखे मुताबिक आध्यात्मिक विकास का अधिक-से-अधिक मौक़ा और सुविधायें मिल सकें। इसलिए गांधीवाद शहरी जीवन की अपेक्षा ग्रामीण जीवन को पसन्द करता है। ग्रामीण जीवन सादगी, शान्त विचार और अस्वास्थ्यकर उत्तेजना से बचाने के लिए अधिक उपयोगी होता है। गांधीवाद सादे गृह-उद्योगों को पसन्द करता है, क्योंकि बड़े पैमाने पर चलनेवाले उद्योगों में पेचीदा और दमनकारक संगठन कायम होजाता है जो व्यक्ति को अपने विकास के लिए आवश्यक स्वतंत्रता से वंचित कर देता है। गांधीवाद की सबसे बड़ी खूबी शायद इसीमें है कि उसने अपने तरीक़े की पूर्णता की हद तक

पहुँचा दिया है। वह अन्याय के सामने चुपचाप सिर झुका लेने में विश्वास नही करता। वह कठोर-से-कठोर दिल को पिघलाने के लिए अहिंसात्मक कष्ट-सहन की शक्ति में असीम विश्वास रखता है और सत्याग्रह का अमोघ हथियार देता है जो हर समय और हर परिस्थिति में मिल सकता है।

समाजवाद

अब समाजवाद का विचार करे। सभी समाजवादी समाज-विकास की मार्क्स-कृत व्याख्या को समान रूप से स्वीकार करते है। यह खयाल करना गलत है कि मार्क्स ने मानव-विचारो अथवा आध्यात्मिक मूल्यो को कोई महत्व नही दिया। समाज की भौतिक व्याख्या का जो दावा है वह यही कि यद्यपि समाज के ऐतिहासिक विकास मे आध्यात्मिक विचार अगभूत तत्त्वो के रूप में काम करते है, किन्तु आम जनता प्रभावित और सचालित सम्पत्ति के उत्पादन और विभाजन के तरीके द्वारा ही होती है। अबतक पूंजीपतियो के एक वर्ग ने उत्पत्ति के साधनो पर कब्जा जमाकर मनमाने तौर पर उत्पादन और विभाजन का काम किया है। इस वर्ग ने धर्म, कला और मनुष्य की दूसरी हर महान सफलता का इस तरह उपयोग किया है कि जिससे उसके ही उद्देश्यो की पूर्ति हो और उसकी ताकत मजबूत बने। मध्ययुग में इस वर्ग की सत्ता सीमित थी, कारण उस जमाने में उत्पत्ति के साधन भी प्रारम्भिक ही थे। किन्तु विज्ञान और यन्त्रविद्या के विकास के साथ इस सत्ता में भारी और भयकर परिणाम में वृद्धि होगई है और उसी हिसाब से शोषित लोगो की निर्भयता और निस्सहायावस्था बढ गई है। वर्ग-युद्ध के इस विस्तार के

कारण आधुनिक समाज तेजी के साथ भयंकर संघर्ष की ओर चला जा रहा है। इस संघर्ष का यह नतीजा होगा कि शोषित लोग उत्पत्ति के साधन पूँजीपतियो के हाथ से छीन लेंगे, उनको सार्वजनिक सम्पत्ति बना डालेंगे और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करेंगे जो पहली बार जन-साधारण को शरीर, मन और आत्मा के विकास का खुला अवसर देगा।

समाजवाद का यह मानना है कि जबतक ऐसा नहीं होता, इस प्रकार के विकास का सच्चा अवसर पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग के चन्द लोगों को ही मिलेगा। श्रमिक वर्ग के लोगो को यह अवसर इसलिए मिलेगा कि पूँजीपति श्रमजीवियो में फूट डालने और उनको गिराने के लिए श्रमजीवियों में से कुछपर कृपा कर दिया करते हैं। समाजवादियो में जो मतभेद है, वह ज्यादातर इसलिए है कि उनकी वर्ग-युद्ध की प्रगति सम्बन्धी कल्पनाये भिन्न है और वे इस बारे में एकमत नहीं है कि उन्हें किस हद तक और किस रूप में वर्गयुद्ध को जानबूझकर बढ़ाना और चलाना चाहिए।

क्या दोनों में विरोध है ?

अब मैं इस बात पर विचार करूँगा कि गांधीवाद और समाजवाद का प्रकट विरोध कहाँतक वास्तविक है। यदि मैं इस बात का सम्पूर्ण और विस्तृत विश्लेषण करूँ तो यह लेख बहुत लम्बा होजायगा। किन्तु मुझे ऐसा मालूम होता है कि दो बाजू होते हुए भी सिक्का एक ही होसकता है। क्या गाँधीवाद और समाजवाद एक ही समस्या के दो पहलू नही होसकते? यह सम्भावना के क्षेत्र से आगे की बात है, यह स्पष्ट होसकता है

यदि हम समाजवादी तत्वज्ञान का आम समाजवादियो की
अपेक्षा थोडा ज्यादा अध्ययन करे। वर्ग-रहित समाज का उद्देश्य क्या है ? यदि उसका उद्देश्य केवल शारीरिक आवश्यकताओं और सुविधाओ की व्यवस्था करना हो तो ब्रिटेन, अमेरिका, स्केण्डिनेविया आदि देश उस सतह पर पहुँच गये है जो, मै समझता हूँ, उस स्थिति से ज्यादा कम नही है जिसको पाने की समाजवाद आशा कर सकता है। सच तो यह है कि यदि ब्रिटेन वास्तव मे समाजवादी होजाय और पिछडे हुए देशो का शोषण करना बन्द करदे तो उसके जीवन का भौतिक माप बढने की अपेक्षा कुछ घट ही सकता है। मेरा कहना यह है कि मानव कार्यों में मुख्य प्रेरणा के तौर पर लोभ और लालच को नष्ट करने के लिए वर्ग-रहित समाज की जितनी जरूरत है उतनी भौतिक सुख के लिए उसकी जरूरत नही है। भौतिक सुख तभीतक आदर्श होसकता है जबतक कि आप लोग अनिवार्य रूप से कुचल डालनेवाली दरिद्रता के शिकार हैं।

बौद्धिक और धार्मिक पहलू

इसके अलावा, बौद्धिक और धार्मिक पहलू मे भी इतना विरोध नही होता, जितना कि कुछ लोग खयाल करते है। जहाँ किसी लक्ष्य अथवा उद्देश्य की प्रत्येक कल्पना मूल में अनिवार्यत धार्मिक होती है, वहाँ कोई धार्मिक मत-मतान्तर अधिक दिन तक जीवित नही रह सकता यदि वह बुद्धिसगत विचारो का विरोधी हो। यह विवाद तकदीर और तदबीर के पुराने झगडे का ही दूसरा रूप है। जब हम इतिहास पर नजर डालते हैं, तो हमको मालूम होता है कि कठिन आवश्यकताओ ने ही

उसका निर्माण किया है। वर्तमानकालीन नाटक के पात्र और भविष्य के निर्माणकर्त्ता होने की हैसियत से हमारी विचार-धारायें और आकांक्षायें घटनाओ पर गहरा असर डालती हैं। कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र वाह्य तत्वों की मर्यादाओ से आगे नहीं बढ सकता। किन्तु उनके भीतर रहते हुए हमको अलग-अलग योजनाओ में से किसी एक को पसन्द करने का अधिकार मिला हुआ है। हम उसका तभी उपयोग कर सकते है जब हमारा कोई लक्ष्य हो। इस लक्ष्य का निर्माण करना ही धर्म का अनिवार्य गुण है। हिन्दुओ ने अपनी धार्मिक प्रणालियो में चार्वाक की भौतिक प्रणाली को शामिल कर गहरी दार्शनिक दूरदर्शिता का परिचय दिया है।

शक्ति द्वारा सचालित उद्योगो और गृह-उद्योगो का सवाल ही एक ऐसा सवाल है कि जहाँ गांधीवाद और समाजवाद का विरोध मिटना करीब-करीब असम्भव-सा प्रतीत होता है। यहाँ भी मुझे ऐसा अनुभव होता है कि व्यवहार की अपेक्षा सिद्धान्त में विरोध अधिक है। समाजवादी रूस का उदाहरण इस बारे में अच्छी रोशनी डालता है। यद्यपि वहाँ एक सिरे पर बड़े-बड़े कल-कारखाने क़ायम किये गये है, किन्तु दूसरी ओर उतना ही शक्तिशाली किन्तु कम प्रकाशित आन्दोलन चलाया गया है जिसके अनुसार हरेक श्रमिक को थोड़ी निजी ज़मीन दी गई है और गो-पालन, मुर्गी व मधुमक्खी-पालन और हर तरह के गृह-उद्योगो की शिक्षा दी गई है

रोज़मर्रा बड़े पैमाने पर घिस-घिस करने के बजाय प्रकृति द्वारा प्राप्त की गई शक्तियो के उपयोग से मानव कौशल के लिए

विस्तृत क्षेत्र खुल जाता है । मैं नही समझता कि कल-कारखानो
और गृह-उद्योगो का अपना-अपना स्थान निर्दिष्ट करने में कोई कठिनाई होसकती है । यह ऊटपटाँग ढग से अथवा कठमुल्लापन से न होना चाहिए । किन्तु मुझे इसमें कोई सन्देह नही है कि यह होसकता है और होना चाहिए ।

तरीक़ा

तरीके के बारे में भी एक शब्द कह दूँ । आम जनता के सगठन की प्राथमिक अवस्थाओ मे समाजवादी भी सत्याग्रह की ताकत को महसूस करने लगे है । उनका कहना सिर्फ इतना ही है कि सम्पत्ति और सत्ता के वास्तविक परिवर्तन के लिए थोडा शारीरिक बल आवश्यक है । मेरा खयाल है कि यह कथन सही है, किन्तु यह तत्त्व आधुनिक राज्य-सस्था की कानून बनाने की सत्ता में मौजूद है । सत्याग्रही इस सत्ता का दोनो तरह उपयोग कर सकते हैं । प्रथम तो वे जो अधिकारारूढ हो उनको अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए इस सत्ता का उपयोग करने के लिए विवश कर सकते है, दूसरे वे खुद समय-समय पर लोकसत्तात्मक शासन-तत्र का लाभ उठाकर इस सत्ता का सीधा उपयोग कर सकते हैं । पिछली बात ज्यादा असरकारक मालूम होती है और यही मुख्य कारण है कि मैंने कॉंग्रेस द्वारा पदग्रहण का समर्थन किया है ।

यद्यपि मै यह मानता हूँ कि दुनिया-भर में दोनो प्रणालियो का सामजस्य होसकता है, किन्तु मुझे इसमें सन्देह नही है कि हिन्दुस्तान के लिए तो इस प्रकार का सामजस्य ही एकमात्र प्रगति का मार्ग है । दो कारणो से हरेक हिन्दुस्तानी को

इसी परिणाम पर पहुँचना चाहिए। हथियारो पर प्रतिवन्ध होने, धार्मिक परम्परा और साम्प्रदायिक तथा जातिगत विभिन्नता के कारण इस देश के आमलोगों को हिंसात्मक क्राति के लिए सगठित करने में जो कठिनाइयाँ थी, वे गत १७ वर्षो से गांधीजी द्वारा अहिंसा के प्रचार के कारण हजार गुना वढ गई है। इस महापुरुष के काम को नष्ट करके लोगो को सर्वथा भिन्न राह पर चलाने की कोशिश करना मूर्खतापूर्ण कार्य होगा।

दूसरे, हमारी कृषि की आवादी हमारी औद्योगिक आवादी के परिमाण से वढ रही है और प्रति व्यक्ति एक एकड से भी कम जमीन हिस्से में आती है। भौतिक सुख के अजीवोगरीव स्वप्न विलकुल अव्यावहारिक है और लोगो को गुमराह ही करते है। हिन्दुस्तान में सादगी का प्रचार उसके तत्त्वज्ञान की अपेक्षा उसकी आवादी के कारण अधिक है। यदि सारी निजी सम्पत्ति पूरी तरह से राष्ट्रीय सम्पत्ति वना दी जाय और रूस की तरह पुनर्रचना करदी जाय तो भी जन-साधारण का जीवन-माप सामान्य से ऊँचा नही वनाया जा सकता। हमको राष्ट्र के नाते सादगी के सौन्दर्य को अपनाना होगा।

कुछ प्रस्ताव

मैं कुछ मोटी सूचनायें देकर यह लेख समाप्त करूँगा, जिनके आधार पर हिन्दुस्तान गांधीवाद और समाजवाद में सामजस्य कर सकता है।

१. उसको पूरी तरह अहिंसा के तरीके को अपनाये रहना चाहिए, वल का उपयोग लोकतन्त्रात्मक पद्धति द्वारा कानून वनाने तक ही मर्यादित रक्खा जाय।

२ उसको सादगी के आदर्श का पूरी तरह अनुसरण करना चाहिए ।

३ राजनैतिक सत्ता को एक जगह केन्द्रित न करके ज्यादा-से-ज्यादा विभाजित किया जाय ।

४ शक्ति द्वारा सचालित उद्योगो का स्वामित्व और संचालन राष्ट्र के हाथ में हो ।

५ कृषि की जमीन न तो बेची जाय, न रहन रक्खी जाय । किन्तु खेती के कामो के लिए जमीन को निजी सम्पत्ति माना जा सकता है ।

६ प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति का काम राज्य के हाथ में रहे ।

७ कृषि, करघे और दूसरे गृह-उद्योगो को संरक्षण दिया जाय और आधुनिक कल-कारखानो को उनके क्षेत्र में दखल देने से कड़ाई के साथ रोका जाय ।

: ७ :

समाजवाद और सर्वोदय[1]

[श्री नरहरि परीख]

दुनिया के सभी देशो में आज पूंजी का जोर है। जमीन, खान तथा छोटे-बड़े कारखानों पर, जिनमें उत्पत्ति के साधन और भाफ के ज़ोर पर चलनेवाली रेल तथा स्टीमर जैसी सवारियो के साधन भी आजाते है, थोड़े-से पूंजीपतियो का ही स्वामित्व है। स्वामित्वहीन होजानेवाले किसानो तथा मजदूरों को अपने रोजमर्रा के खाने-पीने के लिए रोज मजूरी करके कमाई करनी पड़ती है। वे अगर पूंजीपति के क़ब्जे में पडे हुए उत्पत्ति के साधनो पर मजूरी न करें तो उन्हें खाने को न मिले। पूंजीपति अपनी ही शर्तों पर मजदूरों को अपने स्वामित्व वाले साधनों पर काम करने देते हैं। उन्हें जितना चूसा जा सके उतना चूसकर और यथासम्भव कम-

१. कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार होनेवाली समाज-रचना के लिए, जिसे अमल में लाने का जबरदस्त प्रयत्न आज रूस में हो रहा है, हमने समाजवाद शब्द का प्रयोग किया है।

सर्वोदय का मतलब है, समाज के केवल एक वर्ग का नहीं बल्कि सारे समाज का उदय। समाज के सारे वर्ग और सारी जातियां अपनी-अपनी मर्यादा में रहें और अन्य वर्गों या जातियों का न तो शोषण करें और न उन्हें सतायें, बल्कि परस्पर न्यायपूर्ण व्यवहार करें और हिलमिलकर रहें, वह सर्वोदय है। अमीर-ग़रीब, मालिक-मजदूर, जमींदार और किसान इन सब वर्गों के बीच आज जो विद्वेष नजर आता है उसके कारण दूर हों।

से-कम मजदूरी देकर ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफा वे लेलेते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति के साधनो पर स्वामित्व रखने के बल पर यह छोटा-सा पूंजीपति वर्ग किसान-मजदूरो पर अपना आधिपत्य रखता है और उन्हे चूसता है।

राजनैतिक सत्ता भी हरेक देश में इस पूंजीपति वर्ग के ही हाथ में है। इग्लैण्ड, फ्रान्स और अमेरिका जैसे देश प्रजातन्त्रीय कहलाते है, लेकिन वहां भी प्रजा यानी आमलोगो का राजनैतिक मामलो में कोई अकुश नही होता। सारा तत्र इस तरह आयोजित होता है कि उसमें पूंजीपतियो की ही चलती है और उन्हीके स्वार्थों का ध्यान रक्खा जाता है। निजी स्वामित्व वालो के पारस्परिक सम्बन्धो पर नियत्रण रखना और मजदूरवर्ग की ओर से उनपर कोई आक्रमण हो तो उससे पूंजीपतियो की सम्पत्ति की रक्षा करना, यही सब पूंजीपति देशो में सरकार का मुख्य काम होगया है। इस कार्य के लिए भिन्न-भिन्न देशो में भिन्न-भिन्न पद्धतियो की योजना की जाती है। फिर सारी दुनिया को लूटकर उस लूट में से थोडे-बहुत टुकडे अपने मजदूरो को देकर उन्हे सतुष्ट रखने का प्रयत्न भी जारी है। फोर्ड जैसे लोग अपनी मोटरें बेचकर सारी दुनिया से धन खीच लाते है और फिर अपने

उनके बीच पडी हुई खाई पटे, उनमें परस्पर विश्वास और मेल पैदा हो तथा समाज से अन्याय और जुल्म का अन्त हो। गांधीजी के इस कार्यक्रम को हमने सर्वोदय नाम दिया है। रस्किन की Unto This Last पुस्तक का गांधीजी ने गुजराती में जो अनुवाद किया, उसका उन्होंने 'सर्वोदय' नाम रक्खा है; उसीपर से यह शब्द लिया गया है।

मजदूरो को खूब सुविधायें देते हैं। इग्लैण्ड को हमारे देश तथा दूसरे उपनिवेशो में से लूटने का खूब मौक़ा मिलता है, इसलिए वह और देशो के मुक़ाबिले अपने यहाँ के मजदूरो को अधिक अच्छी हालत में रख सकता है। मगर वहाँ भी बेकारी और दरिद्रता न हो ऐसी बात तो नही ही है। इस समय प्रचलित पूंजीवाद के जो अनिष्ट परिणाम सारी दुनिया को सता रहे है उनमें से खास-खास निम्न प्रकार है —

१ बेकारी,

२. दरिद्रता और भुखमरी,

३ मूल्य का निश्चय मानव-सुख के माप से नहीं बल्कि धन के माप से होना;

४ जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ की उत्पत्ति की उपेक्षा करके कम जरूरत वाली वस्तुओ की अधिकाधिक उत्पत्ति,

५ सट्टे तथा बाजार की प्रतियोगिता के कारण उपयोगी वस्तुओ का विनाश और बिगाड;

६ उद्योग-व्यवसाय में पिछडे हुए देशो का शोषण और वहाँ के लोगो की दुर्दशा;

७. जनता की कमर तोड़ दे ऐसा उत्तरोत्तर बढ़ता जानेवाला नैनिक-व्यय का बोझ।

हरेक पूंजीपति देश को शोषण करने के लिए उपनिवेश चाहिएँ। इसके लिए, वे अन्दर-ही-अन्दर लड़ने के लिए सदा तैयार रहते है। एक देश सेना बढाये तो दूसरे को भी बढानी ही पडती है। यह चढाऊपरी कहाँ जाकर रुकेगी, यह नहीं कहा जा सकता। जापान चीन पर कब्ज़ा करने की ताक में रहे और इटली अबी-

सीनिया को हड़प जाने का जाल रचे, यह सब तो चलता ही
रहता है। इससे सारी दुनिया में युद्ध का दावानल चाहे जब
सुलग उठने का भय है।

इस सब दु ख और त्रास से ससार तभी बच सकता है जब सारी समाज-रचना विलकुल ही नये आधार पर हो। आज उस-की दो योजनायें अथवा कार्यक्रम ससार के सामने हैं। एक रूस मे समाजवादियो की और दूसरी हमारे देश में गांधीजी की। सरकार के पास जितनी सत्ता और साधन होसकते हैं उन सबके जोर पर आज रूस में यह कार्यक्रम चल रहा है, इसलिए सारी दुनिया का ध्यान उसकी तरफ आकर्षित हुआ है। हमारे देश में सरकार की सत्ता और साधन जितना विघ्न डाल सकें उस विघ्न के वावजूद इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने का प्रयत्न होरहा है, इसलिए ध्यान आकर्षित करने जैसे परिणाम आज हम नही वतला सकते। फिर भी इस कार्यक्रम की सम्भावनाओ को देख सकनेवाले विचार-शील लोगो का ध्यान तो इसकी तरफ आकर्षित हुआ ही है। इन दोनो कार्यक्रमो का तुलनात्मक विवेचन ही हमारा उद्देश्य है।

समाजवाद और सर्वोदय ये दोनो ही कार्यक्रम अतिम ध्येय के वारे में वहुत-कुछ मिलते हुए हैं। दोनो ही कार्यक्रम मनुष्य-जाति की मुक्ति और सुख-सतोष चाहते हैं। आज दुनिया में जो सामाजिक एव आर्थिक विषमता दृष्टिगोचर होती है, जो अन्याय और जुल्म नजर आता है, दोनो ही कार्यक्रम उसका अन्त करना चाहते हैं। दोनो ही कार्यक्रम यह कहते है कि हरेक स्त्री-पुरुष को निष्ठापूर्वक अपना-अपना काम करना चाहिए। जो काम न करे उसे खाने का अधिकार न हो और जो अपनी शक्ति के अनु-

सार काम करने को तैयार हो उसे कम-से-कम इतना तो मिलना ही चाहिए जिससे वह ठीक तरह अपना जीवन-निर्वाह कर सके, यह दोनो ही कार्यक्रम चाहते है।

समाज में से ऊँच-नीच का भेदभाव मिटे, अपनी प्रगति और विकास करने में किसीको किसी भी तरह की रुकावट न हो, सबको आगे बढ़ने के निर्विघ्न अवसर मिलें और सबको समान अवकाश हो, यह दोनो कार्यक्रमो का ध्येय है। यहाँ-वहाँ किये जानेवाले नाममात्र के सुधारो से इनमें के एक भी कार्यक्रम को सतोष नही होगा। क्योकि दोनो ही कार्यक्रम क्रान्तिकारी है, प्रचलित रूढियो, विचारो तथा स्थापनाओ का मूल से ही सशोधन करके समाज की नई रचना करने का दोनो कार्यक्रम प्रयत्न कर रहे है। करोडो दलित और पीडित लोगो की सैकडो वर्षो से दबी हुई अभिलाषाओ और आकाक्षाओ को दोनो कार्यक्रमो ने प्रकट किया है। इससे सर्वसाधारण को अपनी शक्ति का पता लगा है, वे उसे महसूस करने लगे है और उनका आत्म-विश्वास बढा है। इन दोनो कार्यक्रमो के नेता गाँधीजी, लेनिन, ट्राटस्की तथा स्टालिन अत्यन्त उद्यमी और सादा जीवन व्यतीत करनेवाले है। उन्होने सर्वसाधारण के साथ तादात्म्य करके उनका प्रेम और विश्वास प्राप्त कर लिया है। इसलिए आज इन दोनो कार्यक्रमो में इतना ज़ोर दिखलाई देता है और लोग इनकी तरफ आशा की टकटकी लगा रहे है।

लेकिन साधनो के बारे में इन दोनो कार्यक्रमो में बहुत बडा अन्तर है, जिसके कारण तफसील में तथा नवीन समाज-रचना की कल्पना में भी दोनो कार्यक्रमो में बड़ा भेद होजाता है।

नवीन समाज-रचना के लिए समाजवाद हिंसात्मक क्रान्ति

को अनिवार्य मानता है। वर्तमान सरकारो के समस्त तत्र का १३१
सूत्र-सचालन पूँजीपति-वर्ग के हाथो में है। और इस पूँजीपति-वर्ग के हित का सरक्षण करने के लिए हरेक सरकार की सेना कटिवद्ध है। उसके सामने नवीन समाज-रचना अमल में ऐसे प्रयत्नो से आ ही नही सकती जिन्हे कि वैधानिक कहा जाता है। मौजूदा सरकार के सैनिक वल का सामना किये वगैर कोई भी क्रान्ति-कारी पक्ष राजसत्ता पर अधिकार नही कर सकता, और सत्ता प्राप्त किये वाद भी अगर राजतत्र का पुराना स्वरूप कायम रहे—यानी इस समय कहे जानेवाले प्रजातन्त्रो में जैसा होता है उस तरह पार्लमेण्ट का नया चुनाव हो और नये चुने हुए सदस्यो के द्वारा राज्य का कारोवार चलाया जाय—तो कोई भी क्रान्ति नही की जा सकती। क्योकि जवतक सारा समाज क्रान्ति के सिद्धान्तो को न समझने लगे तवतक चुनाव में क्रान्तिकारियो की वनिस्वत पूँजीपति और ऊपरी सुधारक ही सफल होगे। इसलिए अगर क्रान्ति करके नवीन समाजवादी समाज-रचना करनी हो तो पुराने राजतत्र को जडमूल से उखाडकर समाजवादी सिद्धान्त से ओतप्रोत सगठित पक्ष को सारी राजसत्ता हस्तगत करनी चाहिए। सार्वजनिक मताधिकार, देश के समस्त मतदाताओ के द्वारा पार्लमेण्ट के सदस्यो का निर्वाचन, जिसे प्रत्यक्ष चुनाव (Direct election) कहा जाता है, ये सव इस नामधारी प्रजातत्र के करिश्मे है। इनके मोह में न आकर समाजवादी पक्ष का अधिनायकत्व चलाया जाय तभी क्रान्ति क़ायम रह और सफल होसकती है। इस तरह के राजतत्र को वे श्रमजीवी-वर्ग का अधिनायकत्व (Dictatorship of the Proletariat) कहते है।

श्रमजीवी-वर्ग में उन्हींकी गिनती होती है जो समाजवादी हों और राजनैतिक सत्ता उन्हींके हाथ में होनी चाहिए। श्रमजीवी होनेपर भी जो निजी स्वामित्व में विश्वास रखते हों और भविष्य में खुद श्रम किये बगैर दूसरे के श्रम पर जीने की आशा रक्खें, वे श्रमजीवी-वर्ग के (प्रोलेटेरियट) नहीं कहला सकते। पूंजीपति अथवा भद्रलोक वर्ग के होने पर भी जिनके विचार बदल गये हों, जो समाजवादी हो जायें और उसी आदर्श के अनुसार जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार हों, उन्हें श्रमजीवी-वर्ग के यानी 'प्रोलेटेरियट' कहा जाता है। नये समाजवादी समाज में सभी 'प्रोलेटेरियट' ही होने चाहिए। शारीरिक श्रम किये बगैर पूंजी के व्याज पर, जमीन के भाडे पर, अथवा अन्य किसी तरकीब से दूसरे के श्रम का लाभ उठाकर जीवन-यापन करनेवाला वर्ग 'बुर्ज्वा' है। हम उस वर्ग के लिए भद्रलोक शब्द काम में लायेंगे। समाजवादियों की मान्यता के अनुसार आज सारे जन-समाज में दो वर्ग होगये हैं; एक निजी स्वामित्व तथा व्यक्तिगत स्वामित्व के हक अथवा उसमें विश्वास रखने और उसके जोर पर दूसरों के श्रम का लाभ उठाने अथवा उठाने में विश्वास रखनेवाला पूंजीवादी अथवा भद्रलोक (बुर्ज्वा) वर्ग, और दूसरा निजी स्वामित्व तथा व्यक्तिगत स्वामित्व के हक न रखने में और इस बात में विश्वास रखनेवाला श्रमजीवी-वर्ग (प्रोलेटेरियट) कि हरेक स्त्री-पुरुष को किसी-न-किसी प्रकार का समाजोपयोगी श्रम अपनी शक्ति के अनुसार जरूर करना चाहिए। भद्र-वर्ग के लोग आज अपनी-अपनी शक्ति और गुंजाइश के मुताबिक श्रमजीवी-वर्ग का शोषण कर रहे हैं, इसलिए इन दो वर्गों को शोषक और शोषित नाम

भी दिये जा सकते है। दोनो वर्गो के स्वार्थ परस्पर-विरुद्ध होने के कारण, इन दोनो वर्गों में जाने-अनजाने हमेशा सघर्ष होता ही रहता है। श्रमजीवी-वर्ग को अपनी स्थिति का यथोचित भान करना, उसमें अपने वर्ग का अभिमान (class-consciousness) पैदा करना और भद्र-वर्ग के मुकाबिले के लिए उसे सगठित करना—यह समाजवादियो का एक कार्यक्रम है। इसे वे वर्ग-युद्ध (class-war) कहते है। इस तरह समाज में आज जो अनेक वर्ग दिखलाई पडते है, उन सबका आधार केवल धन ही नहीं होता। विद्या तथा सस्कारिता, कुल, जाति, सत्ता आदि अनेक कारणो से वर्ग बनते है। लेकिन समाजवादी ऐसा मानते है कि इन सबके पीछे असली कारण आर्थिक ही होती है। इसलिए जो प्रोलेटेरियट न होजायें उन सबके विरुद्ध युद्ध-घोषणा करके उनको नष्ट ही कर देना चाहिए। बस एक 'प्रोलेटेरियट' वर्ग ही ससार में रहे। समाज की अन्तिम स्थिति की उनकी कल्पना यह है कि उसमें समस्त जन-समाज वर्ग-हीन (class-less) होजाय। इस वर्ग-युद्ध में वे हिंसा को अनिवार्य मानते है। प्रचलित सरकार को उखाडकर राजसत्ता अपने हस्तगत करना, यह इस कार्य की शुरुआत है। फिर इस सत्ता के जोर पर पूँजीवादी अथवा भद्रवर्ग के निकन्दन का काम होता है। इसमे प्रेम, दया आदि भद्र-समाज मे पोषित कोमल भावनाओ से प्रेरित होना निर्बलता है। समाजवादी कहते है कि हम हिंसा के उपासक नही है, जहाँ हिंसा के वगैर काम चलता हो वहाँ हम हिंसा हर्गिज़ नही करेगे। फिर आज पूँजीवादी समाज में जो प्रत्यक्ष और परोक्ष हिंसा जारी है उसकी वनिस्वत तो हमारी हिंसा एक ही बार की और परिणाम में कम ही है।

२३४ पूंजीवाद का नाश होने के बाद जोर-जबरदस्ती की जरूरत नहीं रहेगी, इसलिए हिंसा अपनेआप मिट जायगी।

सर्वोदय के यानी गांधीजी के कार्यक्रम में सारा दारोमदार अहिंसा पर है। उच्च और शुद्ध साध्य की सिद्धि उतने ही उच्च, शुद्ध और निर्दोष साधन बग़ैर सम्भव नहीं है। जोर-जबरदस्ती और जुल्म-ज्यादती करके शान्ति और न्याय की आशा रखना व्यर्थ है। हिंसा-द्वारा प्राप्त किया हुआ हिंसा-द्वारा ही क़ायम रह सकता है। राजसत्ता क्रान्तिकारियों के हाथ में आये बाद भी मशीनगनें, वायुयानों आदि फौजी सरजाम और फ़ौज का क़ब्ज़ा तो अमुक थोड़े आदमियों के ही हाथ में रहेगा। सारा जनसमाज कभी फ़ौज पर क़ब्ज़ा नहीं रख सकता, और न उसके मुक़ाबिले हिंसा का प्रयोग ही कर सकता है। इसलिए जनता के ऊपर फ़ौज और पुलिस की सत्ता तो जारी ही रहेगी। रूस के समाजवादी चाहे श्रमजीवी-वर्ग के हित की दृष्टि से ही सारा काम कर रहे हों, पर उनका काम फ़ौज और पुलिस के जोर पर चल रहा है। फ़ौज और पुलिस के बल से ही वे समाज पर अपना क़ब्ज़ा रख रहे हैं। रूस तथा अन्य देशों में आज उनकी प्रवृत्ति भय और द्वेष ही फैला रही है। समाजवादी कहते तो यह हैं कि हम पूंजीवाद का नाश करने जितना ही हिंसा का प्रयोग करेंगे, लेकिन श्रम वर्ग की मुक्ति उनका ध्येय हो तो यह दलील किसी काम की नहीं है। क्योंकि आज आपत्ति पूंजीवाद के रूप में है तो कल दूसरे किसी रूप में आ खड़ी होगी। जो छोटा-सा समाजवादी मण्डल आज सत्ता हस्तगत करके बैठा हुआ है उसके हृदय में कलियुग का प्रवेश हो और वह सत्ता छोड़े ही नहीं, तो लोग

उसका क्या कर सकते हैं ? पुरानी नौकरशाही की जगह इस नई नौकरशाही के नीचे भी जनता को तो पिसना ही होगा। क्योंकि जोर-जबरदस्ती के आधार पर निर्मित तंत्र के आधीन रहनेवाली जनता सच्ची स्वतंत्रता का अनुभव कभी नही कर सकती।

गांधीजी के कार्यक्रम की श्रेष्ठता यह है कि सरकार चाहे स्वदेशी हो या विदेशी, समाजवादी हो या पूजीवादी, उसमें उसे सर्वोपरि कभी नही माना जाता। सरकार आखिर मनुष्य की ही पैदा की हुई है, इसलिए उसका बनाया हुआ कोई कानून जब अन्यायपूर्ण मालूम पडे तब उसका सविनय भग करने का हरेक आदमी को हक ही नहीं है, बल्कि ऐसा करना उसका फर्ज है। किसी भी प्रकार के अधर्म या अन्याय का अहिंसक प्रतिकार करने की रीति जनता को सिखलाकर स्वातंत्र्य-सिद्धि का एक उत्तम मार्ग उन्होने जगत् को बतलाया है। आज जो देश स्वतंत्र कहलाते हैं उन देशो मे सारी जनता कोई स्वतन्त्र नही है। परन्तु गांधीजी का यह शस्त्र ऐसा है कि इसका उपयोग बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, शिक्षित-अशिक्षित, कोई भी करके अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकते हैं। मनुष्य की धर्मबुद्धि (Conscience) की स्वतंत्रता को गांधीजी अमूल्य वस्तु मानते हैं और किसी भी आर्थिक लाभ की खातिर उसको छोडने से वह इन्कार करते हैं। गांधीजी सरकार की सत्ता अमुक हद तक ही स्वीकार करने को तैयार हैं, जहाँ धर्म या सिद्धान्त का प्रश्न आवे वहाँ वे जरा भी झुकने को तैयार नही हैं। सब तरह के भय-प्रलोभन, जोर-जबरदस्ती, शरीरबल या हिंसा का वह सब तरह से बिलकुल निषेध करते हैं।

समाजवादियो को मनुष्य-स्वभाव या उसकी धर्मबुद्धि पर

विश्वास नहीं है। धनिक और मालिक में धर्मबुद्धि हो ही नहीं सकती और न प्रकट ही होगी, यह उन्होंने मान लिया है। धर्म जैसी किसी चीज को ही वे स्वीकार नहीं करते। उसे तो वे एक नशा समझते हैं। इसीलिए सैनिक बलवाली बाह्य सत्ता की सर्वोपरिता का वे आग्रह रखते हैं।

गांधीजी मनुष्य-स्वभाव पर विश्वास रखते हैं। संयोगवश आज उनमें विकृति चाहे आगई हो, लेकिन अगर लोगों को पूरी तरह शिक्षा दी जाय तो समाज में परस्पर विश्वास और प्रेम की स्थापना होने में देर न लगे और हिंसा अथवा सरकार की जोर-जबरदस्ती के बगैर सब सुधार समाज में किये जा सकते हैं। आज तो अन्य सरकारों की भाँति रूस की समाजवादी सरकार भय और दबाव से ही सुधार करा रही है। सत्ता के जोर पर सुधारों का अमल जल्दी होता हुआ दिखलाई पड़ता है, परन्तु सत्ता के बल पर जनता के हृदय में उसका प्रवेश नहीं हो सकता और, इसलिए, वह चिरस्थायी नहीं होता। बहुत बार ऐसा होता है कि इस तरह की जोर-जबरदस्ती से कराये हुए सुधार दूसरी पीढ़ी संतोषपूर्वक स्वीकार कर लेती है। मगर मूल की जोर-जबरदस्ती का असर तो नहीं ही मिटता। जोर-जबरदस्ती की दूसरी और नई लहर आते ही सारी इमारत फिर से ढह जाती है। अन्य देशों की प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृतियां तुलनात्मक रूप में थोड़े-थोड़े समय चमककर मिट गईं, पर हिन्दुस्तान और चीन की प्राचीन संस्कृतियां तत्त्वतः अपने मूलस्वरूप में अभी भी क़ायम हैं। ऐसा क्यों है, यह सोचने की बात है। बात यह है कि हिन्दुस्तान और चीन ने दूसरे देशों की तरह सैनिक दिग्विजय नहीं की, बल्कि

उनके ऊपर अनेक सैनिक आक्रमण हुए है। हमारा देश तो अनेक
वर्षो से राजनैतिक पराधीनता में भी ग्रस्त है। तथापि हमारे ऊपर आक्रमण करनेवाले देशो की सस्कृति के नामशेष होजाने पर भी हमारी सस्कृति कायम है। क्योकि हमारे यहाँ उसका निर्माण शरीरबल पर नही बल्कि आत्मबल पर हुआ है।

साधनो के भेद की वजह से दोनो कार्यक्रमो मे एक महत्वपूर्ण अन्तर यह होजाता है कि जबतक राजसत्ता हाथ में न आवे तबतक समाजवादी कार्यक्रम का अमल बिलकुल ही नही हो-सकता। वे जो आर्थिक फेर-बदल करना चाहते है उसकी शुरुआत भी राजसत्ता के बगैर नही होसकती। रूस मे राजसत्ता हस्तगत करने का अनुकूल अवसर मिल गया यह दूसरी बात है, पर अन्य देशो में तो आज समाजवादियो को मारे-मारे ही फिरना पड रहा है। क्योकि अपनेको उलट देनेवाले किसी भी कार्यक्रम को— फिर वह हिंसात्मक हो या अहिंसात्मक—कोई सरकार नही चलनें देना चाहेगी। अहिंसात्मक कार्यक्रम की ही यह खूबी है कि चाहे जितनी प्रबल सरकार भी उसे रोक नही सकती। तब पिछली लडाई में हम क्यो नही जीते, यह प्रश्न पाठको को जरूर होगा। लेकिन हमारी यह लडाई सत्य और शुद्ध अहिंसा के आधार पर न रह सकी, यही उसकी निष्फलता की सबसे बडी वजह है। मगर अभी भी हम अपना रचनात्मक कार्य करके जनता की शक्ति बढा सकते है। इसके विरुद्ध समाजवादी कार्य-क्रम मे तो जनता जितनी ज्यादा कुचली जायगी, उसका जितना अधिक शोषण होगा, और उसे जितना अधिक सताया जायगा, उतनी ही वह अधिक व्याकुल होगी और अन्त में सामना करेगी,

ऐसी निर्यात के ऊपर आधार रखकर बैठना पडता है। सत्ता हाथ में आवे तवतक खाली वातें, स्पीचे और योजनायें ही करने को रहती हैं। जिसे 'आर्गेनाइज' (संगठित) करना कहा जाता है, उसके सिवा दूसरा कोई कार्यक्रम होता ही नही। 'आर्गेनाइज़ करने में उभाडने के सिवा और कुछ हो ही नही सकता। और वह भी ऐसे गुप्त रूप में अथवा अन्य किसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत करना पडता है कि मूल प्रवृत्ति वहुत वार विस्मृत होजाती है और गुप्त रहना ही मुख्य प्रवृत्ति वन जाता है।

गाँधीजी के कार्यक्रम में राजसत्ता हस्तगत करने से पहले भी सामाजिक और आर्थिक रचनात्मक कार्य किया जा सकता है। लोग अपने ही पुरुपार्थ तथा स्वावलम्वन से वहुत-कुछ कर सकते हैं। कोई कुटुम्व अथवा गाँव अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति जितना स्वावलम्वी होजाय तो वर्तमान पूँजीवादी उद्योग-व्यवसाय के द्वारा चलनेवाले शोपण में से वहुत-कुछ तो वच ही सकता है। गाँधीजी के खादी तथा ग्राम-उद्योग के कार्यक्रम में यही वात है। मार्क्स का कहना है कि राजनैतिक स्वतत्रता वहुत कुछ आर्थिक स्वतत्रता पर ही निर्भर है। आर्थिक स्वतन्त्रता से ही राजनैतिक स्वतत्रता का उदय होता है। यह देखते हुए तो राजसत्ता हस्तगत करने के लिए केवल शरीरवल पर आधार रखने के वदले, उद्यम और स्वावलम्वन द्वारा जनता की आर्थिक और नैतिक शक्ति वढाने का गाँधीजी का कार्यक्रम अधिक महत्वपूर्ण है। उनके कार्यक्रम में मनुष्य को अपनी स्थिति का भान होते ही वह उसे सुधारने के लिए स्वय प्रत्यक्ष कार्य करने में प्रवृत्त हो सकता है, और ऐसा करते हुए वह अपनी शक्ति वढाता जाता है।

वालक-वृद्ध, पुरुष-स्त्री, अमीर-गरीब, शहरी या ग्रामीण, शिक्षित-अशिक्षित, हरेक कुछ-न-कुछ कर सकता है। जनता अपनी शक्ति जितनी बढाती जाय उतने स्वराज्य का उपभोग करती जाती है। फिर जब राजनैतिक स्वराज्य स्थापित हो तब भी, इस रचनात्मक प्रवृत्ति से प्राप्त शिक्षा के कारण, अपने प्रतिनिधियो के ऊपर उचित अकुश रखने की शक्ति जनता में आगई होती है।

समाजवादियो का दावा ऐसा है, अथवा वे ऐसा ध्येय रखते है, कि समाज का सारा तत्र भौगोलिक आधार पर अथवा धन्धो के आधार पर छोटे-छोटे स्वसत्ताक (खुदमुख्तार) मण्डलो के, जिन्हे कि रूस मे 'सोवियट' कहते है, द्वारा सचालित हो। परन्तु इस ध्येय की सिद्धि के लिए साधन-रूप तो अत्यधिक केन्द्रीभूत सत्तावाला और मनुष्य-जीवन के प्रत्येक अग पर अकुश रखनेवाला एक जबरदस्त मध्यवर्त्ती (केन्द्रीय) तन्त्र उन्होने खडा किया है। आज रूस में हरेक आदमी को क्या करना, क्या खाना, बच्चो को कैसी शिक्षा देनी, स्वय कैसे विचार बनाने चाहिएं, इस सबकी व्यवस्था का काम सोवियट सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है। प्रेसो, पुस्तको और सस्थाओ पर रूस मे सरकार का जितना अकुश है उतना अन्य किसी देश मे शायद ही होगा। समाजवादी उपदेशको और प्रचारको के सिवा अन्य कोई उपदेशक या प्रचारक वहाँ अपना काम नही कर सकते। ऐसी परिस्थिति में क्या छोटे-छोटे मण्डल (खुदमुख्तार) रह सकते है? हम साध्य चाहे जो तय करे, परन्तु उसका निर्माण तो स्वीकृत साधनो को अमल में लाकर ही होता है। जबरदस्त मध्यवर्ती समाजवादी तन्त्र में से छोटे खुद-

मुख्तार ग्राममण्डलो का अस्तित्व में आना दूसरी क्रान्ति हुए वगैर सम्भव नही मालूम पडता।

गाँधीजी के कार्यक्रम में थोडे-बहुत अश में खुदमुख्तार ग्राम-मण्डलो पर पहले ही जिम्मेदारी का भार रक्खा जाता है। राजनैतिक प्रवृति मे पडने से पहले भी ये ग्राममण्डल बहुत-सी बातो में स्वावलम्बी और इसलिए स्वतत्र होसकते है। यह बात हम लोगो की जनमघुट्टी में ही मिली हुई है। हमारे देश में जनता की प्राणशक्ति विलायत में जिसे 'स्टेट' कहते है और अपने देश की आज की भाषा में जिसे 'सरकार' कहा जाता है उसमें कभी नही रही। राजनैतिक दृष्टि से हम अनेक वर्षो से पराधीन है, और हमारे यहाँ अनेक सरकारे आई-गई है, मगर हमारी जनता ने अपनी सामाजिक स्वतत्रता बनाये रक्खी। इस अग्रेज़ सरकार ने ही हमारी इस प्राणशक्ति, हमारी उस स्वतंत्रता पर प्रहार किया है। जनता की इस नष्ट की हुई प्राणशक्ति में नवजीवन का सचार करके गांधीजी जनता की सच्ची स्वतत्रता सिद्ध करना चाहते है।

अपनी ज़रूरत की सारी चीजो का उत्पादन यथासम्भव कल-कारखानो के द्वारा करना समाजवादी कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण अग है। वर्तमान पूँजीवाद में एक छोटे वर्ग ने उत्पत्ति के साधनों पर अधिकार किया हुआ है और वह वर्ग समाज की उपयोगी वस्तुओ की आवश्यकतापूर्त्ति के उद्देश से नही बल्कि मुनाफे की दृष्टि से अपने कारखाने चलाता है। यंत्रो की ज्यो-ज्यो नई खोजें होती जाती है त्यो-त्यो बेकारी बढती जाती है। फिर ये सब यत्र जिसके कब्ज़े मे है वह उनपर अपने अधिकार के ज़ोर पर गरीबो

का शोषण करता है, जिससे गरीबी और भुखमरी भी बढती जाती
है। समाजवादियो का कहना यह है कि ये यत्र और कारखाने स्वय कोई खराब चीज़ नही है। इनके दुरुपयोग, इनके स्वामित्व द्वारा होनेवाले आम लोगो के शोषण, मौजूदा गरीबी, बेकारी तथा भुखमरी की तो वजह है। उत्पत्ति के समस्त साधनो पर यदि सारे समाज का स्वामित्व कर दिया जाय, तो उसमें मुनाफे की बात न रहकर समाज की आवश्यकतायें पूरी करने की ही बात रहे। फिर समस्त उत्पादन नियत्रित होसकता है, यानी समाज की आवश्यकतानुसार ही चीजें तैयार की जाये। इस समय निजी उत्पादको मे जो प्रतिस्पर्धा होती है वह प्रतिस्पर्धा फिर रहे ही नही। फिर समाज में हरेक को उसकी शक्ति के अनसार काम देने तथा उसकी आवश्यकतानुसार उसे मिलने की व्यवस्था भी समाज की तरफ से ही हो। इसलिए बेकारी तो फिर हो ही नही। क्योकि जो काम करने को तैयार हो उन्हे खाने को तो मिलेहीगा। फिर यत्रो और भाफ तथा बिजली जैसी भौतिक शक्तियो द्वारा काम लेने की वजह से मनुष्य-जाति पर से श्रम का एक बडा बोझ उतर जाता है, और उत्पादन तेजी से होने के कारण लोगो को कम घण्टे काम करना पडता है। इससे हरेक को खूब फुर्सत मिलती है, जिसका उपयोग वह अपनी सस्कारिता बढाने में तथा आमोद-प्रमोद के कामो में कर सकना है। इस कार्यक्रम के अनुसार सारे रूस को कारखानेमय कर डालने की खेती तक यत्रो से करने की—जबरदस्त प्रवृत्ति इस समय जारी है, जिसके फलस्वरूप एक बिलकुल नई सस्कृति का निर्माण हो रहा है।

१४२ गांधीजी यन्त्र के दुश्मन तो हर्गिज़ नहीं है। उनका विरोध यंत्रों से नही बल्कि यत्रो के लिए दीवाने होने से है। वैज्ञानिक और यान्त्रिक सशोधन निजी लाभ और नफे के साधन न होने चाहिएँ। श्रम का बचाव अमुक वर्ग के लिए नहीं बल्कि सारी मानव-जाति के लिए होना चाहिए, इस बारे में समाजवादियो और उनके विचार मिलते हुए है। परन्तु गांधीजी ऐसे यत्रो को सीमित करना चाहते हैं जो अत्यन्त खर्चीले हो और बड़े पैमाने पर ही चल सकें। उनका कहना है कि यत्र का विचार करते वक्त उत्पादन का नहीं बल्कि मनुष्य का विचार प्रधान होना चाहिए। जिन यत्रो के कारण, उपयोग में न आने की वजह से, मनुष्य के अग निकम्मे हो जायें, उन यत्रो के वह विरुद्ध हैं। जो यंत्र मनुष्य तथा उसके द्वारा काम के लिए पाले जानेवाले पशुओ को निकम्मा और उसके फलस्वरूप निर्वाह के साधनो से रहित बना देनेवाले हो, उन्हे वह अनिष्ट मानते है। परन्तु जो यत्र मनुष्य और उसके पाले हुए पशुओ के श्रम को हलका करने की दृष्टि से अथवा उनका समय बचाने की दृष्टि से ही बने उन्हें वह आमतौर पर इष्ट मानते हैं। ऐसे यत्र बनाने के लिए बड़े कारखानो की ज़रूरत हो तो वे रहें, पर उनपर स्वामित्व सारे समाज का होना चाहिए। यत्रो के बारे में इसे गांधीजी के विचारो का सार कहा जा सकता है। परन्तु असली बात तो यह है कि हमारे देश की मौजूदा हालत में देश को यत्रमय और कारखानेमय कर डालने का प्रश्न व्यावहारिक ही नहीं है। अभी तो ऐसी परिस्थिति है कि अपने देश में जितने यत्रो का प्रवेश करेंगे उतने ही अधिक शोषित और पराधीन बनेंगे। फिर रूस में ज़बरदस्ती कल-कारखाने दाखिल

करने की जैसी प्रवृत्ति चल रही है वैसी प्रवृत्ति तो, हमारे पास
सत्ता हो तो भी, गांधीजी की कार्य-पद्धति और सर्वोदय के सिद्धान्तो की दृष्टि से अनिष्ट ही है। गांधीजी तो यही कहते है कि खेती और दूसरे उद्योग-धन्धो मे जहांतक मनुष्य के हाथ-पैरो का उपयोग हो सकता हो वहांतक यत्रो से काम न लिया जाय। अनिवार्य अर्धबेकारी हमारे देश की सबसे विकट समस्या है। यत्रो के आक्रमण से मनुष्य के साथ उसके पाले हुए पशु भी बेकार होने लगे हैं। इसलिए जबतक अपार मानव-शक्ति और पशु-शक्ति हमारे देश में निकम्मी पडी रहेगी तबतक भौतिक शक्ति का प्रवेश कर यत्र जारी करने का विचार हमारे लिए बेहूदा है। इसके अलावा यह बात तो हुई कि मनुष्य शारीरिक श्रम करे तो उससे उसकी कलाकुशलता बढती है, बौद्धिक विकास विशेष होता है और काम मे से आनन्द और सन्तोष अधिक मिलता है। इसलिए सीमित क्षेत्र मे यत्रो को स्वीकार करके गांधीजी का झुकाव तो छोटे-छोटे गृह-उद्योगो और ग्राम-उद्योगो की ओर ही है। विज्ञान और यत्रविद्या में आज जो प्रगति हुई है उसका अपने गृह-उद्योगो तथा ग्राम-उद्योगो के साधनो का सशोधन करने में जितना उपयोग किया जा सके उतना तो करना ही चाहिए।

पुराने अर्थशास्त्रियो की तरह समाजवादी भी यह मानते है कि आवश्यकतायें और सुख-सुविधा के साधन बढाते जाना सस्कृति की एक निशानी है। इस सबध में समाजवादियो की विशेषता यह है कि वे ऐसी अर्थ-व्यवस्था करना चाहते है जिससे मनुष्य-मात्र को ये साधन उपलब्ध हो। परन्तु लोगो का ध्येय अपनी सुख-सुविधायें बढाते जाना ही रक्खा जाय, तो यह निश्चित

करना बहुत मुश्किल है कि उसका अन्त कहाँ होगा और संतोष या तृप्ति कहाँ जाकर होगी। फिर मानव-पुरुषार्थ का अंतिम ध्येय कोई सासारिक सुख-सुविधायें ही नही है।

सर्वोदय का कार्यक्रम यन्त्रो की तरह आवश्यकताओ की भी मर्यादा रखने के लिए कहता है। जीवन कष्टमय न होना चाहिए और उसके लिए अमुक सीमा तक आवश्यकतायें बढानी ही चाहिएँ। उदाहरण के लिए, इस समय हमारे देश में रहन-सहन का जो ढग है वह तो ऊँचा होना ही चाहिए। लेकिन आवश्कताओ को अमर्याद रूप से बढाते ही चले जाओ और उसके लिए उत्पादन के पीछे लगे रहो यह बात गाँधीजी को पसन्द नही है। हम अपने जीवन को यथासम्भव सादा—पर सादे का मतलब कष्टपूर्ण नही है—बनाले तो इस समय के बहुत-से अनिष्टो से सहज ही बचा जा सकता है। गाँधीजी के स्वदेशी धर्म का विवरण देने की यहाँ कोई जरूरत नही है। आयात-निर्यात के व्यापार की इस समय जो बहुत अनावश्यक और निरर्थक वृद्धि हुई है, तथा जिस व्यापार ने विभिन्न देशों के बीच लडाई का स्वरूप धारण कर लिया है, वह व्यापार—यानी झगडे का बडा कारण—इस धर्म के पालन से अपनेआप मिट जायगा।

अब हम निजी स्वामित्व पर विचार करे। जमीन, खान, जगल, कारखाने जैसे उत्पत्ति के जो मुख्य साधन है उन्हे इस समय समाजवादी सामाजिक स्वामित्व के कर ही रहे है। लेकिन उसके अलावा निजी स्वामित्व के जो हक है उन्हे भी वे नष्ट करना चाहते है। क्योंकि निजी स्वामित्व के जोर पर ही मनुष्य दूसरो पर सत्ता चला सकते और दूसरो के श्रम का अनुचित लाभ

उटा सकते है। मनुष्य के पास बहुत सी सम्पत्ति हो तो अपने
उपयोग जितनी रखकर बाकी पर से उसे अपने स्वामित्व का अधिकार छोड देना चाहिए। मनुष्य के पास बहुतसे मकान हो तो अपने उपयोग लायक ही वह रख सकता है। दूसरो को भाडे पर वह मकान नही उठा सकता। उनपर अपना अधिकार भी उसे छोड देना चाहिए। फिर अपने उपयोग के लिए रखे उसपर भी उपयोग जितना ही उसका अधिकार हो सकता है। वह अपनी जीवितावस्था में उसे बख्शीस में या मरने के वाद विरासत में किसी-को नही दे सकता। यह राजसत्ता के द्वारा किया जाना चाहिए।

गांधीजी निजी स्वामित्व के हक को नष्ट करने के लिए नही कहते, लेकिन उसके ऊपर अकुश जरूर लगाना चाहते है। अपने पास जो सम्पत्ति हो उसका स्वामी समाज की ओर से उसका ट्रस्टी हो, ऐसा वह कहते है। इसलिए स्वामित्व के हक के साथ उसके ऊपर स्वामित्व की जिम्मेदारी भी आती है। तत्त्वत इन दोनो कार्यक्रमो में अन्तर इतना ही रहता है कि समाजवादी जिस सम्पत्ति को समाज के स्वामित्व की वनायें उसका प्रवन्धकर्त्ता सरकार की ओर से नियुक्त होता है, जवकि गांधीजी के कार्यक्रम मे समाज के हित की दृष्टि से सम्पत्ति का उपयोग करने के लिए उसका मालिक स्वय ही अपनेको ट्रस्टी अथवा प्रवन्धकर्त्ता वना लेता है। समाजवादी कार्यक्रम मे सरकार इस बात को देखती है कि प्रवन्धकर्त्ता अपना कर्त्तव्य पूरी तरह पालन करता है या नही, जवकि गांधीजी के कार्यक्रम में मालिक या ट्रस्टी अगर पूरी तरह अपने कर्तव्य का पालन न करे तो समाज को उसके विरुद्ध सत्याग्रह करना पडता है। गांधीजी के कार्यक्रम मे

सत्ता लोगो के पास रहती है और अपनी शक्ति के अनुसार वे उसका अमल कर सकते हैं। समाजवादी कार्यक्रम में सत्ता लोगो के प्रतिनिधि होने का दावा करनेवाली सरकार के हाथ में रहती है।

एक दूसरी दृष्टि से देखिए तो गांधीजी का कार्यक्रम समाजवादी कार्यक्रम की अपेक्षा श्रेठ लगता है। उत्पत्ति के समस्त साधनो पर समाज का स्वामित्व होजाय, यानी उनकी व्यवस्था निर्वाचित मण्डलो या मनुष्यो के द्वारा हो, तो दूसरे सब लोगो को तो अपने-को सौंपा जानेवाला काम अथवा श्रम उनकी सूचना के अनुसार करना ही रह जाता है। फर्ज कीजिए कि समाजवादी सिद्धान्तो के अनुसार किसी गाँव की सारी खेती का विभाजन होगया है। उस खेती की व्यवस्था सारा गाँव इकट्ठा मिलकर तो कर नहीं सकता, इसलिए उन्हें उसके लिए कोई मण्डल नियुक्त करना पड़ेगा। जमीन कब जोती जाय, उसमें कितना खाद काफी होगा, उसमें क्या-क्या चीज बोई जाय और कब-कब उसकी निदाई-बुआई वगैरा की जाय, यह सब वह मण्डल ही तय करेगा। अगर सिचाई करनी हो तो वह भी कब की जाय, यह मण्डल ही सोचेगा। इसलिए दूसरो के सोचने की तो कोई खास बात रह ही नहीं जाती। गांधीजी के कार्यक्रम में काम करनेवाले हरेक कुटुम्ब के पास उत्पत्ति के साधन अधिकांश में अपने स्वामित्व के ही होते हैं। इसलिए खेती करनी हो तो उस सम्बन्धी सारी और दूसरा कोई उद्योग करना हो तो उसकी तफसीली बातो पर—जैसा कच्चा माल कहाँसे लाना, कब खरीदना, उसमें से क्या-क्या बनाना, क्या-क्या बेचना, इस सबका—उसको विचार करना पड़ता है और इस सब नफ़े-नुक़सान की जिम्मेदारी उसीपर

रहती है। इस तरह काम करने से जिस जिम्मेदारी और होशि-
यारी का खयाल रहता है, जो विचारशक्ति पैदा होती है, विविध विषयों का जो सामान्य ज्ञान मिलता है, वह सौंपा हुआ काम निश्चित समय करनेवाले मजदूर में नही होता। काम के द्वारा जो शिक्षा मिलती है और जीवन का जो विकास होता है वह मनुष्य के खाली मजूर बन जाने पर नही हो सकता।

इसके विरुद्ध समाजवादी यह दलील जरूर कर सकते है कि गांधीजी के कार्यक्रम में हरेक मनुष्य को अधिक घण्टे काम करना पडेगा, जबकि हमारे कार्यक्रम मे यत्रो और भौतिक शक्ति की मदद होने के कारण समाज की आवश्यकताओ जितनी चीजे थोडे घण्टो के काम से ही तैयार की जा सकेगी और सब लोगो को जो अधिक अवकाश मिलेगा उसका उपयोग वे जीवन का विकास करनेवाली प्रवृत्तियो में करेगे। लेकिन अवकाश या फुर्सत का सदुपयोग करना उतनी सहज बात नही है जैसा कि समझा जाता है। हमारे सुशिक्षित माने जानेवाले व्यक्ति उन्हे मिलनेवाले अवकाश का कैसा उपयोग करते है, इसकी अगर ठीक-ठीक जाँच की जाय तो इस बात की कल्पना हो सकती है कि अवकाश में से जीवन के विकास की सम्भावना कितनी कम है।

गांधीजी स्वामित्व का हक मिटाने के लिए नही कहते, मगर उनकी सारी अर्थ-व्यवस्था ऐसी है कि मालिको के लिए शोपण की गुजाइश ही नही रहती। गृह-उद्योग और ग्राम-उद्योग द्वारा होनेवाली उत्पत्ति में पूंजी और श्रम के झगड़े के लिए भी गुंजा-इश नही रहती।

कारखानो के जीवन मे—फिर चाहे वे कारखाने सामाजिक

स्वामित्व के ही क्यो न हो—तथा जीवन के प्रत्येक अग पर अकुश रखनेवाले केन्द्रीभूत सत्ता वाले राजतन्त्र में कुटुम्ब-प्रथा टूट जायगी, ऐसा भी एक भय है। समाजवादी कहते हैं कि हम कुटुम्ब-प्रथा को तोड़ना नही चाहते, पर यह हमें जरूर मालूम पड़ता है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था में कुटुम्ब-प्रथा निभ नही सकेगी और इसका हमें कोई दु ख भी नहीं है। पुरुप-स्त्री दोनो कारखानो अथवा खेतो में काम करने जायें, दोनो को अपने सोवियट की ओर से खाने को मिले और वालको की शिक्षा की व्यवस्था भी सोवियट अपने ऊपर ले ले, वीमारी, वुढापे अथवा अल्पायु के वालकों के लिए भी कोई सम्पत्ति जमा करने की जरूरत न हो, क्योकि इस सवकी जिम्मेदारी सरकार के ऊपर होती है, तो फिर कुटुम्ब-सस्था का प्रयोजन वहुत कम रह जाता है। इस समय रूस में विवाह तथा तलाक केवल उस विभाग के दफ्तर में जाकर स्त्री-पुरुप द्वारा अपनी ऐसी इच्छा जाहिर करने मात्र से हो सकते हैं। अन्य देशो में विवाह-सम्वन्ध के वगैर होनेवाले स्त्री-पुरुप-सम्वन्ध अपमानजनक अथवा कलंकरूप माने जाते है, पर वहाँ ऐसी भी कोई वात नही है। इतने पर भी ऐसा मानने की कोई वजह नही है कि वहाँ दुराचार का साम्राज्य है। ससार के हरेक वड़े शहर में वड़े-वडे चकले (वेश्यालय) उस-उस शहर को कलकित करते है, पर मास्को में आज यह वात विलकुल नही रही है, और इस धन्धेवाली स्त्रियों को खास तौर से शिक्षा देकर विविध कामो में लगा दिया गया है।

गांधीजी के कार्यक्रम में कुटुम्ब-प्रथा के महत्व पर खासतौर से जोर दिया जाता है। कुटुम्ब-प्रथा का सवसे महत्वपूर्ण उद्देश्य

बालको की शिक्षा है। कुटुम्ब की सार्थकता इसी बात मे है कि
जिन बालको को खुद ही पैदा किया है उन्हे स्त्री-पुरुष दोनो साथ मिलकर अच्छी तरह शिक्षित बनायें। बालको के सर्वांगीण विकास के लिए प्रेममय वातावरण की अत्यन्त आवश्यकता है। बिलकुल छोटे बालको के पोषण के लिए 'नर्सरी' (शिशुगृह) और उससे कुछ बडी उम्र के बालको के लिए बाल-छात्रालय बनाये जाते है, परन्तु कुटुम्ब का प्रयोजन उनसे कभी सिद्ध नही हो सकता। क्योकि शिक्षक चाहे जितना शास्त्रीय ज्ञान रखते हो, पर वे माता का स्थान नही ले सकते। कुटुम्ब में बालको को माता-पिता के प्रेम की जो शीतल छाया मिलती है और माता-पिता की देखभाल मे वे जितनी अच्छी तरह परवरिश पाते है उतनी शीतल छाया और देखभाल 'नर्संरी' तथा बालछात्रालय में मिलना लगभग असम्भव ही है। आज के हमारे कुटुम्बो में ऐसा वातावरण दिखलाई नही पडता तो उसमें सुधार करना चाहिए, पर इतने वर्षो के सामाजिक पुरुषार्थ के बाद कुटुम्ब-प्रथा का जो विकास हुआ है उसे नष्ट हो जाने देने—अथवा उसका नाश हो जाय ऐसी रचना करने में तो दुनिया का नुकसान ही है। कुटुम्ब में जिन सामाजिक सद्‌गुणो का विकास होना सम्भव है, वे 'नर्संरी' या बाल-छात्रालय मे नही आ सकते।

दोनो कार्यक्रमो की तुलना का सार निकालने पर मालूम पडता है कि समाजवादी कार्यक्रम कुछ विशेष निश्चित स्वरूप का है, क्योकि उसकी सारी योजना सैनिक ढग पर की हुई है। समाजवादी सेना तथा पुलिस की मार्फत और सरकारी अकुशवाले प्रेस, रेडियो, सिनेमा आदि प्रचार के साधनो द्वारा नवीन समाज-रचना खडी करना चाहते है। बाहरी दबाव पर उसमें विशेष

आधार रहता है, इसलिए उनमें बाह्य परिवर्तन जल्दी होता है। गांधीजी की प्रवृत्ति आन्तरिक परिवर्तन करने की है। उनके कार्यक्रम में बाहरी दबाव की गुंजाइश नहीं है। उनके कार्यक्रम का मुख्य अंग यह है कि लोगों को नये ढंग से विचार करना आ जाय। उनकी अपील केवल मजूर-वर्ग, किसान-वर्ग अथवा दलित-वर्ग से ही नहीं है, बल्कि धनिकों और मालिकों से भी है। धनिकों और मालिकों का वह नाश नहीं चाहते, पर उनका हृदय-परिवर्तन करके उन्हें अन्याय-अत्याचार करने से रोकते हैं। फिर उनके कार्यक्रम के अनुसार सारी अर्थ-रचना ही अपने-आप ऐसी बनती है कि उसमें अन्याय-अत्याचार की गुंजाइश ही नहीं रहती। उसमें सत्ता और धन की प्रतिष्ठा के बदले सेवा और शरीरश्रम की प्रतिष्ठा की स्थापना होती है। ये सब फेर-बदल आन्तरिक होने के कारण जितना मूल्य-परिवर्तन गांधीजी के कार्यक्रम में होता है उतना मूल्य-परिवर्तन समाजवादी कार्यक्रम में नहीं होता। समाजवादी कार्यक्रम में नैनिश्चल, बड़े पैमाने पर उत्पादन, यंत्रों का दीवानापन, आवश्यकताओं की अमर्याद वृद्धि, ये सब चीजें पुरानी अर्थ-रचना में भी हो रहती है, जबकि अहिंसा तथा स्वदेशी-धर्म द्वारा गांधीजी एक बिलकुल ही नये दर्शन का निर्माण करते हैं। उसमें बाहरी दबाव न होने से उनकी कल्पनानुसार हुई रचना अधिक चिरस्थायी तथा सुखशान्तिमय होने की सम्भावना है। उसमें किसीके प्रति कोई द्वेष या ईर्ष्या न होने के कारण वह एक पक्ष या वर्ग के कल्याण का नहीं बल्कि सबके कल्याण का कार्यक्रम है। इसीलिए गांधीजी ने उनका जो सर्वोदय नाम रक्खा है वह सार्थक है।

: ८ :

गाँधी-नीति

[ले०—श्री जैनेन्द्रकुमार]

कहा गया कि गांधीवाद पर कुछ लिखकर दूं। मेरे लेखे गांधीवाद शब्द मिथ्या है। जहाँ वाद है वहाँ विवाद अवश्य है। वाद का लक्षण है कि प्रतिवाद को विवाद द्वारा खडित करे और इस तरह अपनेको प्रचलित करे। गांधी के जीवन में विवाद एकदम नही है। इसलिए गांधी को वाद द्वारा ग्रहण करना सफल नही होगा।

गांधी ने कोई सूत्रबद्ध मतव्य प्रचारित नही किया है। वैसा रेखाबद्ध मतव्य वाद होता है। गांधी अपने जीवन को सत्य के प्रयोग के रूप में देखते है। सत्य के साक्षात्कार की उसमें चेष्टा है। सत्य पा नही लिया गया है, उसके दर्शन का निरन्तर प्रयास है। उनका जीवन परीक्षण है। परीक्षाफल आँकने का काम इतिहास का होगा, जबकि उनका जीवन जिया जा चुका होगा। उससे पहले उस जीवन-फल को तौलने के लिए वाद कहाँ है, perspective कहाँ है ?

जो सिद्धान्त गांधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और परिपुष्ट हो रहा है वह केवल बौद्धिक नही है। इसलिए वह केवल बुद्धि-ग्राह्य भी नही है। वह समूचे जीवन से सबध रखता है। इस लिहाज से उसे आध्यात्मिक कह सकते है। आध्यात्मिक, यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नही रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक,

वादगत अथवा अन्य क्षेत्रों में वह एक-सा व्यापक है। वह चिन्मय है, वादगत वह नहीं है।

गांधी के जीवन की समूची विविधता भीतरी संकल्प और विश्वास की निपट एकता पर कायम है। जो चिन्मयतत्त्व उनके जीवन से व्यक्त होता है उसमें खंड नहीं है। वह सहज और स्वभाव-रूप है। उसमें प्रतिभा की आभा नहीं है, क्योंकि प्रतिभा द्वन्द्वज होती है। उस निर्गुण अद्वैत तत्त्व के प्रकाश में देख सकें तो उस जीवन का विस्मयकारी वैचित्र्य दिन की धूप जैसा धौला और साफ हो आयगा। अन्यथा गांधी एक पहेली है जो कभी खुल नहीं सकती। कुंजी उसकी एक और एक ही है। वहाँ दो-पन नहीं है। वहाँ सब दो एक है।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" समूचे और बहुतेरे मतवादों के बीच में रहकर, सबको मानकर किन्तु किसीमें न फँसकर, गांधी ने सत्य की शरण को गह लिया। सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य। इसके अतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई और भाषा नहीं है, न सत्य की ही कोई और परिभाषा है। इस दृष्टि से गांधी की आस्था का आधार अविश्वासी को एकदम अगम है। पर वह आस्था अटूट, अजेय और अचूक इसी कारण है। देखा जाय तो वह अति सुगम भी इसी कारण है।

कहाँसे गांधी को कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है, इसका बिना अनुमान किये उस कर्म का अंगीकार कठिन होगा। स्रोत को जान लेने पर मानो वह कर्म सहज उपलब्ध होजायगा। गांधी की प्रेरणा शत-प्रति-शत आस्तिकता में से आती है। वह सर्वथा अपनेको ईश्वर के हाथ में छोड़े हुए हैं। ऐसा करके बना-

यास वह भाग्य-पुरुष (Man of Destiny) हो गये है। जो वह
चाहते है होता है—क्योकि जो होनेवाला है उसके अतिरिक्त
चाह उनमें नही है।

बौद्धिक रूप से ग्रहण की जानेवाली उनकी जीवन-नीति, उनकी समाज-नीति, उनकी राजनीति इस आस्तिकता के आधार को तोडकर समझने की कोशिश करने से समझ मे नही आ सकती। इस भाँति वह एकदम विरोधाभास से भरी, वक्रताओ से वक्र और प्रपचो से क्लिष्ट मालूम होगी। जैसे मानो उसमें कोई रीढ ही नही है। वह नीति मानो अवसरवादी (Opportunist) की नीति है। मानो वह घाघपन है। पर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह घाघपन, यह कार्यकौशल, अनायास ही यदि उन्हे सिद्ध होपाया है तो इसी कारण कि उन्होने अपने जीवन के समूचे जोर से एक और अकेले लक्ष्य को पकड लिया है। और वह लक्ष्य क्योकि एकदम निर्गुण निराकार, अज्ञेय और अनन्त है, इससे वह किसीको बाँध नही सकता, खोलता ही है। उस आदर्श के प्रति उनका समर्पण सर्वांगीण है। इसलिए सहज भाव से उनका व्यवहार भी आदर्श से उज्ज्वल और ग्रन्थिहीन होगया है। उसमें द्विविधा ही नही है। दुनिया में चलना भी मानो उनके लिए अध्यात्म का ध्यान है। नर की सेवा नारायण की पूजा है। कर्मसुकौशल ही योग है। ईश्वर और ससार में विरोध, यहाँतक कि द्वित्व, ही नही रह गया है। सृष्टि सृष्टामय है और विष्ठा को भी सोना बनाया जा सकता है। यो कहिए कि सृष्टि मे सृष्टा, नर मे नारायण, पदार्थमात्र मे सत्य देखने की उनकी साधना मे से ही उनकी राजनीति, उनकी समाजनीति ने वह रुख लिया जो कि

लिया। राजनीति आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुई, स्थूल कर्म में सत्यज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और घोर घमासान में प्रेम और शान्ति के आनन्द को अक्षुण्ण रखना बताया गया।

सत्य ही है। भेदभाव उसमें लय है। इस अनुभूति की लीनता ही सबका परम इष्ट है। किन्तु हमारा अज्ञान हमारी बाधा है। अज्ञान, यानी अहंकार। जिसमें हम हैं उसमें ही, अर्थात् स्वयं में शून्य, अपनेको अनुभव करते जाना ही ज्ञान पाना और जीवन की चरितार्थता पाना है। यही कर्तव्य, यही धर्म।

विश्वास की यह भित्ति पाने पर जब व्यक्ति चलने का प्रयासी होता है तब उसके कर्म में आदर्श सामाजिकता अपनेआप समा जाती है। समूचा राजनैतिक कर्म भी इनके भीतर आ जाता है। देश-सेवा आती है। विदेशी सरकार से लड़ना भी आजाता है। स्वराज्य कायम करना और शासन-विधान को यथावश्यक रूप में तोड़ना-बदलना भी आजाता है।

पर वह कैसे ?

सत्य की आस्था प्राप्त कर उस ओर चलने का प्रयत्न करते ही अभ्यासी को दूसरा तत्त्व प्राप्त होता है—अहिंसा। उसे सत्य का ही प्राप्त पहलू कहिए। जैसे रात को चांद का बस उजला भाग दीखता है, शेष पिछला भाग उसका नहीं दिखाई देता, उसी तरह कहना चाहिए कि जो भाग सत्य का हमारे सम्मुख है वह अहिंसा है। वह भाग अगर उजला है तो किसी अपर ज्योति से ही है। लेकिन फिर भी वह प्रकाशोद्गम (सत्य) स्वयं हमारे लिए कुछ अज्ञात और प्रार्थनीय ही है। और जो उसका पहलू आचरणीय रूपमें सम्मुख है वही अहिंसा है।

सत्य म तो सब है एक। लेकिन यहाँ इस ससार मे तो मुझ
जैसे कोटि-कोटि आदमी दीखते है। उनके अनेक नाम है, अनेक वर्ग है। ईश्वर मे आस्था रक्खूँ तो इस अनेकता के प्रति कैसा आचरण करूँ? उन अनेको मे भी कोई मुझे अपना मानता है, कोई पराया गिनता है। कोई सगा है, दूसरा द्वेशी है। और इस दुनिया के पदार्थों में भी कुछ मेरे लिए जहर है, कुछ अन्य औषध है। इस विषमता से भरे ससार के प्रति ऐक्य-विश्वास को लेकर मैं कैसे वर्तन करूँ, यह प्रश्न होता है।

आस्तिक अगर ऐसे विकट अवसर पर सशय से घिरकर आस्तिकता को छोड नही बैठता, तो उसके लिए एक ही उत्तर है। वह उत्तर है, अहिसा।

जो है ईश्वर का है, ईश्वर-कृत है। मै उसका, किसीका, नाश नही चाह सकता। किसीकी बुराई नही चाह सकता। किसीको झूठा नही कह सकता। घमण्ड नही कर सकता। आदि कर्तव्य एकाएक ही आस्तिक के ऊपर आ जाते है।

लेकिन कर्तव्य कुछ आजाय—तर्क सुझायगा कि—सचाई भी तो मै देखूँ। आँख सब ओर से तो मूँदी नही जा सकती। वह आँख दिखाती है कि जीव जीव को खाता है। मे चलता हूँ, कौन जानता है कि इसमे भी बहुतो को असुविधा नही होती, बहुतो का नाश नही होता? आहार विना क्या मै जी सकता हूँ? लेकिन आहार क्या हिसा नही है? जीवन का एक ही व्यापार 'ईश्वर' के बिना सम्भव नही बनता दीखता। जीवन युद्ध दिखलाई देता है। वहाँ शान्ति नही है। पग-पग पर दुविधा है और विग्रह है।

तब कहे, कौन क्या कहता है। ऐसे स्थल पर आकर ईश-

निष्ठा टूटकर ही रहेगी। ऐसे समय पागल ही ईश्वर की बात कर सकता है। जिसकी आँखें खुली हैं और कुछ देख सकती हैं वह सामने के प्रत्यक्ष जीवन में से और इतिहास द्वारा परोक्ष जीवन में से साफ-साफ सार तत्त्व को पहचान लेगा कि युद्ध ही मार्ग है। उसमें बल की ही विजय है, और बल जिस पद्धति से विजयी होता है उसका नाम है अहिंसा। जो मजबूत है वह निर्बल को दबाता आया है, और इस तरह विकास होता आया है।

मेरे खयाल में श्रद्धा के अभाव में तर्क की और बुद्धि की सचाई और चुनौती यही है।

किन्तु समस्या भी यही है। रोग भी यही है। आज जिस उलझन को सुलझाना है और जिस उलझन को सुलझाने का सवाल हर देश में, हर काल में, कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करनेवाले योद्धा के सामने आयगा वह यही है कि इस कुरुक्षेत्र में मैं क्या करूँ? किसको छोड़ूँ, किसको लूँ? बुराई को कैसे पछाड़ूँ? बुराई क्या है? क्या बुराई अमुक अथवा अमुक नामधारी है? या बुराई वह है जो कि दुःख देती है।

इतिहास की आदि से दो नीति और दो पद्धति चलती चली आई है। एक वह जो अपनेमें नहीं, बुराई कहीं बाहर देखकर ललकार के साथ उसके नाश के लिए चल देती है। दूसरी, जो स्वयं अपनेको भी देखती है और बुरे को नहीं, उसमें विकार के कारण आगई हुई बुराई को दूर करना चाहती है। आस्तिक की पद्धति यह दूसरी ही हो सकती है। आस्तिकता के बिना बहुत मुश्किल है कि पहली नीति को मानने और उसके वश में हो जाने से व्यक्ति बच सके।

गाँधी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक प्रयोग
है। वह नीति संघर्ष की परिभाषा में बात नही सोचती। संघर्ष की भाषा उसके लिए नितान्त असगत है। युद्ध तो अनिवार्य ही है, किन्तु वह धर्म-युद्ध हो। जो धर्म-भाव से नही किया जाता वह युद्ध संकट काटता नही, संकट बढाता है। धर्म साथ हो, फिर युद्ध से मुँह मोडना नही है। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु मित्र बनता है। नही तो शत्रु चाहे मिट भी जाये, पर वह अपने पीछे शत्रुता के बीज छोड जाता है और इस तरह शत्रुओ की सख्या गुणानुगुणित ही हो जाती है। अत युद्ध शत्रु से नही, शत्रुता से होगा। बुराई से लडना कब रुक सकता है ? जो बुराई को मान बैठता है, वह भलाई का कैसा सेवक है ? इससे निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। एक क्षण भी उस युद्ध मे आँख झपकने का अवकाश नही। किन्तु पल-भर के लिए भी वह युद्ध वासनामूलक नही हो सकता। वह जीवन और मौत का, प्रकाश-अधकार और धर्म-अधर्म का युद्ध है। यह खाडे की धार पर चलना है।

इस प्रकार गाँधी-नीति की दो आधारशिला प्राप्त हुई —

(१) ध्येय—सत्य।

क्योकि ध्येय कुछ और नही हो सकता। जिसमें द्विधा है, दुई है, जिससे कोई अलग भी है, वह ध्येय कैसा ? जो एक है, वह संपूर्ण भी है। वह स्वयंभू है, आदि-अंत है, अनादि-अनंत है। प्रगाढ आस्था से ग्रहण करो तो वही ईश्वर।

(२) धर्म—अहिंसा।

क्योकि उस ध्येय को मानने से जो व्यवहार-धर्म प्राप्त हो सकता है वह अहिंसा ही है।

१५८ अहिंसा इसलिए कहा गया कि उस प्रेरक (positive) तत्त्व को स्वीकार की परिभाषा में कहना नही हो पाता, नकार की ही परिभाषा हाथ रह जाती है। उसको कोई पॉज़िटिव सज्ञा ठीक ढक नही पाती। हिंसा का अभाव अहिंसा नही है, वह तो उसका रूपभर है। उसे अहिंसा का प्राण प्रेम है। प्रेम से और जीवन्त (पॉज़िटिव) शक्ति क्या है ? फिर भी अहिंसा-गत और लौकिक प्रेम में अतर वाँधना कठिन हो जाता, और 'प्रेम' शब्द में निषेध की शक्ति भी कम रहती, इसीसे प्रेम न कहकर कहा गया, 'अहिंसा'। वह अहिंसा निष्क्रिय (passive) पदार्थ नहीं है। वह तेजस्वी और सक्रिय तत्त्व है।

अहिंसा इस प्रकार मन की समूची वृत्ति द्वारा ग्रहण की जानेवाली शक्ति हुई। कहिए कि चित्त अहिंसा मे भीग रहना चाहिये। और सत्य है ही ध्येय। कहा जा सकता है कि मात्र इन दोनो—सत्य-अहिंसा—के सहारे साधारण भाषा में लोक-कर्म के सबध में कुछ प्रकाश नही प्राप्त होता। सत्य को मन मे धार लिया, अहिंसा से भी चित्त को भिगो लिया, लेकिन अब करना क्या होगा ? तो उसके लिए है —

(३) कर्म—सत्याग्रह।

'सत्याग्रह' मानो कर्म की व्याख्या है। सत्य प्राप्त नही है। उस उपलब्धि की ओर बढते रहना है। इसीमें गति (उन्नति, प्रगति, विकास आदि) की आवश्यकता समा जाती है। इसीमें कर्तव्य (Doing) आ जाता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब पहली स्थापना में सत्य को अखंड और अविभाज्य कहा गया तब वहाँ अवकाश कहाँ रहा

कि आग्रह हो ? जहाँ आग्रह है वहाँ, इसलिए, असत्य है ।

यह शका अत्यत सगत है । और इसीका निराकरण करने के लिए शर्त लगाई गई—सविनय । जहाँ विनय-भाव नही है वहाँ सत्याग्रह हो ही नही सकता । वहाँ उस 'घोष' का व्यवहार है तो जान अथवा अजान मे छल है । व्यक्ति सदा ही अपूर्ण है । जब-तक वह है, तबतक समष्टि के साथ उसका कुछ भेद भी है । फिर भी जो समष्टिगत सत्य की झाँकी व्यक्ति के अत करण में प्राप्त होकर जाग उठी है, व्यक्ति की समूची निष्ठा उसीके प्रति समर्पित हो जानी चाहिए । उस डटी रहनेवाली निष्ठा को कहा गया, आग्रह किन्तु उस आग्रह में सत्याग्रही अविनयी नही हो सकता, और उस आग्रह का बोझ अपने ऊपर ही लेना है । उसकी (नैतिक से अतिरिक्त) चोट दूसरे तक नही पहुँचने देता । यानी सत्याग्रह है तो सविनय होगा । कही गहरे तल मे भी वहाँ अविनय-भाव नही हो सकता । कानून (सरकारी और लौकिक) तक की अवज्ञा हो सकेगी, उसका भग किया जा सकेगा, लेकिन तभी जबकि सत्य की निष्ठा के कारण हो और वह अवज्ञा सर्वथा विनम्र और भद्र हो ।

गाँधी-नीति के इस प्रकार ये तीन मूल सिद्धान्त हुए । यो तीनो एक ही है । फिर भी कह सकते है कि सत्य व्यक्तिगत है, अहिंसा सामाजिक और सत्याग्रह राजनैतिक हो जाता है ।

इसके आगे सगठित और सामुदायिक रूप से कर्म की व्यवस्था और आन्दोलन का प्रोग्राम पाने के बारे में कठिनाई नही होगी । व्यक्ति किन्ही विशेष परिस्थितियो को लेकर पैदा होता है । इन परिस्थितियो में गर्भित आदि-दिन से ही कुछ कर्त्तव्य उसे मिलता है । वह कर्तव्य कितना ही स्वल्प और सकडा

प्रतीत होता हो, लेकिन वही व्यक्ति की सिद्धि और वही उसका स्वधर्म है। उसको करके मानो वह सब कुछ करने का द्वार पा लेता है। "स्वधर्मे निधन श्रेय, परधर्मो भयावह।"

इस भाँति वर्तन करने से विकल्प-काल कटता है। कल्पना को लगाम मिल जाती है। बुद्धि बहकती नही और तरह-तरह के स्वर्ग चित्र (Utopias) तात्कालिक कर्म से बहकाकर व्यक्ति को दूर नही खीच ले जाते। क्षणोत्साह की (Romantic) वृत्ति इस तरह मद होती है और परिणाम में स्वार्थ-जन्य स्पर्द्धा और आपाधापी भी कम होती है। सबको दवा देने और सबसे आगे बढे हुए दीखने की ओर मन उतना नही लपकता और परिणामत व्यक्ति विक्षोभ और विपमता पैदा करने में नही लग जाता। महत्वाकाक्षा (Ambition) की धार तब काटती नही। व्यक्ति कर्मशाली तो बनता है, फिर भी भागाभागी से बच जाता है। वह मानो अपना स्वामी होता है। ऐसा नही जान पडता जैसे पीछे किसी चाबुक की मार पर बेबस भाव से अन्धी गति में भाग रहा हो।

मुझे तो मालूम होता है कि हमारी सामाजिक और राजनैतिक उलझनो की जड़ में मुख्यता से यही आपाधापी और बढाबढी की प्रवृत्ति है।

ऊपर यह आन्तरिक (Subjective) दृष्टिकोण की बात कही गई। यानी भावना-शुद्धि की बात। मुख्य भी वही है। पर प्रश्न होगा कि घटना की दुनिया (Objective Conditions) के साथ गाँधी-नीति क्या करना चाहती है। उसमे क्या सुधार हो, और कैसे हो? समाज का सघटन क्या हो? आवश्यकता और

अधिकार का, उद्यम-आराम का, विज्ञान-कला का, शासन का १६१
और न्याय का परस्पर सपर्क और विभाजन क्या हो ? श्रम और पूंजी कैसे निपटें ? आदि-आदि ।

तो प्रश्नकर्ता को पहले तो यह कहना आवश्यक है कि सारे प्रश्न आज अभी हल हो जायेंगे तो काल भी आज ही समाप्त होजायगा । इसमे प्रश्नो को लेकर एक घटाटोप से अपनेको घेरे लेने और हतबुद्ध होने की आवश्यकता नही है । फिर उनका हल कागज़ पर और बुद्धि मे ही हो जानेवाला नही है । सब सवालो का हल बतानेवाली मोटी किताब मुझे उन सवालो से छुटकारा नही दे देगी । इसलिए विचार-धाराओ (ideologies) से काम नही चलेगा । जो प्रश्न है उनमे तो अपनी समूची कर्म की लगन से लग जाना है । ऐसे ही वे शनै शनै निपटते जायेंगे । नही तो किनारे पर बैठकर उनका समाधान मालूम कर लेने से कर्म की प्रेरणा चुक जायगी और अत में मालूम होगा कि वह मन द्वारा मान लिया गया समाधान समाधान न था, फरेब (illusion) था, और ज़रा बोझ पडते ही वह तो उड गया और हमे कोरा-का-कोरा वही-का-वही छोड गया । अर्थात् उन प्रश्नो पर बहसा-बहसी और लिखा-पढी की अपने-आप में जरूरत नही है । उनमें जुट जाना पहली बात है ।

गांधी-नीति है कि समस्या को बौद्धिक कहकर केवल बुद्धिक्रीडा से उसे खोलने की आशा न करो । ऐसे वह उलझेगी ही । समस्या जीवन की है, इससे पूरे जीवन-बल के साथ उससे जूझो । इस कार्य-पद्धति पर बढते ही पहला सिद्धान्त-सूत्र जो हाथ लगता है, वह है स्वदेशी ।

स्वदेशी द्वारा व्यक्तिगत कर्म में सामाजिक उपयोगिता पहली

शर्त के तौर पर मांगी जाती है। उस शर्त का अर्थ है कि हमारे काम से आस-पास के लोगो को लाभ पहुँचे। आदान-प्रदान बढे, सहानुभूति विकसे, और पडौसी-पन पनपे। Neighbourliness (पास-पड़ौसपन) स्वदेशी की जान है। मेरा देश वह जहाँ मैं रहता हूँ। इस भाँति सबसे पहले मेरा घर और मेरा गाँव मेरा देश है। उत्तरोत्तर वह बढकर ज़िला, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व तक पहुंच सकता है। भूगोल के नक़शे का देश अतिम देश नही है। मेरे घर को इकार कर नगर कुछ नही रहता, उसी तरह नगर-प्रात को इकार कर राष्ट्र कुछ नही रहता। उधर दूसरी ओर नागरिक हित से विरोधी बनकर पारिवारिक स्वार्थ तो निषिद्ध बनता ही है।

स्वदेशी में यही भाव है। उसमें भाव है कि मैं पड़ौसी से टूटूँ नही और अधिकाधिक हममे हितैक्य बढे। दूसरा उसमें भाव है, सर्वोदय। एक जगह जाकर शरीर भी आत्मा के लिए विदेशी हो सकता है।

समाजवादी अथवा अन्य वस्तुवादी समाजनीतियाँ इसी जगह भूल कर जाती हैं। वे समाज को सम्हालने में उसीकी इकाई को भूल जाती हैं। उनमे योजनाओ की विशदता रहती है, पर मूल में neighbourliness के तत्त्व पर जोर नही रहता। सामाजिकता वही सच्ची जो पड़ौसी-प्रेम से आरभ होती है। इस तत्त्व को ध्यान मे रक्खें तो बड़े पैमाने पर चलनेवाला यान्त्रिक उद्योगवाद गिर जायगा। जहाँ बडे कल-कारखाने हुए वहाँ जन-पद दो भागो में बँटने लगता है। वे दोनो एक-दूसरे को गरज़ की भावना से पकड़ते और अविश्वास से देखते है। वे परस्पर सहृय बने रहने

के लिए एक-दूसरे की आँख बचाते और मिथ्याचार करते हैं।
पूंजी-मालिक मजूरो की झोपडियो को यथाशक्ति अपनेसे दूर रखता है और अपनी कोठी पर चौकीदारो का दल बैठाता है, जिससे खुद दुष्प्राप्य और सुरक्षित रहे। उधर मजूरो की आँखो में मालिक और मालिक का बगला काँटा बन रहते हैं।

इस प्रकार के विकृत और मलिन मानवीय सबध तभी असभव बन सकेगे जब समाज की पुनर्रचना पडौसपन (neighbourliness) के सिद्धान्त के आधार पर होगी। वह आधार स्वार्थ-शोध नही है। वस्तुवादी भौतिक (materialistic) नीतिया अतत यही पहुँचती है कि व्यक्ति स्वार्थ के आधार पर चलता और चल सकता है।

स्वदेशी सिद्धान्त मे से जो उद्योग का कार्यक्रम प्राप्त होता है उसमें मानव-सबधो के अस्वच्छ होने का खटका कम रहता है। उसमें उत्पादन केन्द्रित नही होगा, और खपत के लिए मध्यम वर्ग के बढने और फूलने की गुजाइश कम रहेगी। मानव श्रम का मूल्य बढेगा और अनुत्पादक चातुर्य का मूल्य घटेगा। महाजन, श्रमी और ग्राहक सब आसपास मिले-जुले रहने के कारण समाज में वैषम्य विषम न होगा और शोषणवृत्ति को गर्व-स्फीत होने को अवकाश कम प्राप्त होगा।

इस भाँति चरखा, ग्रामोद्योग, मादक-द्रव्य निषेध, और हरिजन (दलित)-सेवा यह चतुर्विध कार्यक्रम हिन्दुस्तान की हालत को देखते हुए अत-शुद्धि और सामाजिक उपयोगिता दोनो अन्तो को मिलानेवाली गाँधीनीति के स्वदेशी सिद्धान्तो से स्वयमेव प्राप्त होता है। यह शक्ति-सचय और ऐक्य-विस्तार का कार्यक्रम है। शक्ति और अवसर प्राप्त होने पर फिर सत्याग्रह (Direct Action)

द्वारा राजनैतिक विधान में परिवर्तन लाने और उसे लोक-कल्याण की ओर मोडने की बात विशेष दुस्साध्य नही रहती।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि स्वदेशी का आरम्भ राष्ट्र-भावना से नही होता। इसलिए उसका अन्त भी राष्ट्र-भावना पर नही है। राष्ट्र-भावना मध्य मे आजाय तो भले ही आजाय। स्वदेशी को भौगोलिक राष्ट्र के अर्थ में लेने से गडबड उपस्थित हो सकती है। इससे 'देशी' पूजीवाद को बढावा मिलता है। और उस राह तो एक दिन State capitalism में उतर आना होगा। उसके अर्थ होगे, एकतन्त्रीय शासन। यान्त्रिक-उद्योगाश्रित समाजवाद का परिणाम आनेवाला है। यानी ऐसा समाजवाद एकतन्त्रवाद (फाशिज्म आदि) को बुलाकर ही रहेगा। गांधीनीति का स्वदेशी सिद्धान्त, अत हिंदुस्तानी मिलो को नही, घरेलू चरखो को चाहता है।

सक्षेप मे गांधीनीति इस स्थापना से आरम्भ होती है कि जीवात्मा सर्वात्मा का ही खड है। इससे व्यक्ति का ध्येय सत्य से एकाकार होना है। उसकी इस यात्रा में ही समाज, राष्ट्र और विश्व के साथ सामजस्य की बात आती है। वह जितना उत्तरोत्तर इन व्यापक सत्ताओ से एकात्म होता चला जावे उतना अपनी और ससार की बधन-मुक्ति में योगदान करता है। इस यात्रा के यात्री के जीवन-कर्म का राजनीति एक पहलू है। आवश्यक है, पर वह पहलू भर है। वह राजनीति कर्म में युद्ध-रूप हो, पर अपनी प्रकृति में उसे धर्ममयी और शांति-लक्षी ही होना चाहिए।

उस यात्रा का मार्ग तो अपरिचित ही है। फिर भी श्रद्धा यात्री का सहारा है। भीतरी श्रद्धा का धीमा-धीमा आलोक उसे मार्ग से डिगने न देगा। उस राही को तो एक कदम बस काफी

है । वह चले, फिर अगला सूझा ही रक्खा है । मुख्य बात चलना है । राह चलने से ही खुलेगी । इस प्रकार इस यात्रा में प्रत्येक कदम ही एक साध्य है । यहाँ साधन स्वय साध्य का अग है । साधन साध्य से भिन्न कहाँ हो सकता है । इससे जिसे लम्बा चलना है, लम्बी बातो का उसके लिए अवसर नही है । वह तो चला चले, बस चला चले ।

व्यवहार का कोई भी कर्म धर्म से बाहर नही है । सबमे धर्म की श्वास चाहिए । उसी दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओ को ग्रहण करने मे समुचित समाधान का लाभ होगा । अन्यथा नही । सबके मन में एक जोत है । उसे जगाये रखना है । फिर उस लौ में जीवन को लगाये चले चलना है । चले चलना, चले चलना । जो होगा ठीक होगा । राह का अत न नाप । तुझे तो चलना है ।

: ६ :

समाजवादी व्यवस्था

[ले०—श्री सम्पूर्णानन्द]

समाजवादो के लिए पहली जरूरत यह है कि वह राज्य पर अधिकार प्राप्त करे। सम्भव है कि यह अधिकार वैधानिक उपायों से ही प्राप्त होजाय—कुछ लोगो का यह विश्वास है कि फ्रास में पापुलर फ्रण्ट सरकार की स्थापना इसकी शुभ सूचना है—परन्तु अबतक यह अधिकार-परिवर्त्तन क्रान्ति द्वारा ही होता रहा है।

समाजवादी क्रान्ति का यह अर्थ होगा कि राजनैतिक अधिकार उस वर्ग के हाथ में आजाय जो आज शोषित है। इस क्रान्ति की पद्धति क्या होगी, यह हिंसात्मक होगी या अहिंसात्मक, यह हमारे लिए अप्रासगिक है। पर यह आवश्यक है कि राजनैतिक अधिकार समाजवादियो के हाथ में आये। केवल इतना ही काफी नहीं है कि जिन लोगो का राजयन्त्र पर कब्जा हो वे समाजवादी विचार रखते हो, परन्तु यह नितान्त आवश्यक है कि ये समाजवादी अद्यावधि-शोषित वर्ग के हो, अर्थात् मजदूर और किसान, एक शब्द में सर्वहारा या तत्सम अर्थात् निम्न मध्यमवर्ग के, हो। इसका तात्पर्य यह है कि यदि समाजवादी अधिकारियो को इस दलितवर्ग की सक्रिय सहानुभूति के द्वारा अधिकार की प्राप्ति हुई होगी तब तो वे समाजवादी व्यवस्था की ओर निर्भयता के साथ बढ सकेंगे, अन्यथा यदि वे दूसरे, अर्थात् आजकल के साधिकारवर्गो की सहायता से शासन की गद्दी पर बैठेंगे तो उनको पदे-पदे समझौते की नीति बरतनी पड़ेगी और अपनी समाजवादी कार्य-

शैली को पीछे रखकर अपने हिमायतियो का हित-साधन करना
पडेगा। उनके हाथो बहुतसे उपयोगी सुधार होजायँगे, पर सुधार मात्र के लिए क्रान्तियाँ नही होती।

इसका एक और अर्थ निकलता है, वह भी समझ लेना चाहिए। यदि समाजवादियो की परिस्थिति वैसी ही रही जैसी कि लोकतन्त्र देशो में विभिन्न राजनैतिक दलो की होती है, अर्थात् यह कि कभी पार्लमेण्ट में बहुमत होगया तो दो-चार वर्ष तक मन्त्रिमण्डल मे आगये, अल्पमत हुआ तो पद से पृथक् होगये, तो भी वे कुछ नही कर सकते। ऐसे राजनैतिक दलो को सदैव यह डर लगा रहता है कि यदि हमने कोई व्यापक उलट-फेर किया तो हमारे बाद जिस दल का बहुमत होगा वह हमारा किया-धरा सब उलट देगा, अत वे डरकर ही आगे बढते है। न तो उनको अतीत से नाता तोडते बनता है, न अनागत की ओर लम्बे डग डाल सकते है। ऐसे लोग भी साधारण सुधारक होकर ही रह जाते है। यदि समाजवादी व्यवस्था कायम होनी है तो यह आवश्यक है कि समाजवादी देश के एक नही, एकमात्र राजनैतिक दल हो। यह निश्चय होना चाहिए कि वे जो कुछ करेगे उसमें स्थायित्व होगा और उनको दूसरे दलो के साथ समझौता करके अपनी कार्य-पद्धति में परिवर्तन करने की जरूरत नही है। यह स्थायित्व तभी हो सकता है जब साधारण पार्लमेण्टरी ढग कुछ काल के लिए स्थगित-सा होगया हो और समाजवादियो के हाथ में क्रान्ति के द्वारा अधिकार आया हो।

कुछ लोग यह कहते है कि यदि समाजवाद में कुछ तथ्य है तो समाजवादी कही छोटे-से क्षेत्र में उसका प्रयोग करके उसकी व्यावहारिकता सिद्ध करे। भारत में बहुधा यह सुना जाता है कि

६८ गाँधीवाद और समाजवाद का इस समय मुकाबिला है। इन दोनों में गाँधीवाद तो नित्य व्यवहार में बरता जा सकता है, पर समाजवाद की परीक्षा नही होती, इसलिए उसके पीछे पडना अपनेको सन्दिग्ध चीज़ के हाथो बेच देना है।

यूरोप में कई बार छोटे-से क्षेत्र में समाजवादी प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया। समाजवादी बस्तियाँ तक बसाई गई। पर वे सब प्रयोग असफल रहे। आज रूस में ही ऐसा प्रयत्न सफल होरहा है। कारण स्पष्ट है। जबतक सारे देश में समाजवादी वातावरण न हो तबतक कोई एक कल-कारखाना समाजवादी ढग से नही चल सकता। यदि कोई व्यक्ति किसी समाजवादी को यह चुनौती देता है कि तुम समाजवाद की व्यावहारिकता छोटे क्षेत्र मे दिखला दो, तो उसका यही उत्तर है कि ऐसा नही हो सकता।

गाँधीवाद और समाजवाद का सवाल उठाना भी निरर्थक है। गाँधीवाद या तो साधन है या साध्य। यदि वह साधन है तो वह तप, इन्द्रिय-निग्रह, उदारता आदि का नाम है। इन चीजो के स्वरूप के विषय में थोडा-बहुत मतभेद भले ही हो, पर समाजवादियो को इनसे कोई सैद्धान्तिक मतभेद नही है। हाँ, दोनो मे एक प्रत्यक्ष भेद है। एक का सम्बन्ध व्यक्तियो से है, अत उसका फल जल्दी देख पडता है, दूसरे का सम्बन्ध राष्ट्रो से है, अत उसका फल दीर्घकाल में देख पडता है।

वस्तुत समाजवाद की व्यावहारिकता का सबूत माँगना वैसा ही है जैसे स्वाधीनता की व्यावहारिकता का प्रमाण माँगना। न समाजवाद का प्रयोग छोटे-से क्षेत्र में होसकता है, न स्वाधीनता का। दोनो के लिए कठिन परिश्रम करना होता है और यह परि-

श्रम दीर्घकाल तक जारी रखना होता है। विना राजयंत्र पर कब्जा किये दो में से एक का भी आस्वाद नही होसकता।

अधिकार प्राप्त करके समाजवादी कल-कारखानो, बैंको, रेलो, जहाजो, खानो और जगलो को सार्वजनिक सम्पत्ति बना देंगे, इसमें तो कोई संदेह ही नही है। यह सम्भव नही है कि कोई ऐसा कारखाना चल सके जिसमें कई व्यक्ति मजदूर की हैसियत से काम करें और एक या थोडे-से व्यक्ति मुनाफा ले। जो लोग माल तैयार करनेवाले और ग्राहक के बीच मे बडी-बडी आढतें खोलकर मुनाफा करते है, उनका स्थान सार्वजनिक दुकाने या ग्राहकों की सहयोग-समितियाँ लेगी। खेती की अवस्था भी आज जैसी नहीं रह सकती। शोषण तो खतम हो ही जायगा। न तो जमींदारी-प्रथा रह जायगी, न काश्तकार ही अपनी भूमि दूसरो को लगान पर उठा सकेंगे। छोटी-छोटी टुकडियो की खेती लाभदायक नही होसकती है, चकवदी की कोशिश होसकती है, पर इससे भी अच्छी चीज सम्मिलित कृषि है—अर्थात् गाँव के सब कृषको की भूमि की एकसाथ खेती हो। सबकी जिम्मेदारी पर बीज, खाद इत्यादि के लिए ऋण भी सुगमता से मिल सकता है, मशीनें भी खरीदी जा सकती है या राज की ओर से मिल सकती है, पैदावार की बिक्री का भी अच्छा प्रवन्ध होसकता है। सब खर्च काटकर जो मुनाफा बचेगा उसमें सबका हिस्सा लग जायगा। निजी सम्पत्ति का भी कुछ-न-कुछ पुनर्वितरण होगा। एक मकानो का ही उदाहरण लीजिए। ऐसे भी लोग है जिनके मकानो में इतनी जगह है कि सारे घर के लोग कितना भी फैलकर रहे उसका उपयोग नही कर सकते। एक-एक मकान के चारो ओर बाग के रूप में इतनी भूमि

घिरी पडी है जिसमें एक-एक छोटा गाँव बस सकता है। यह अनुचित है कि इतनी जमीन एक परिवार के कब्जे में रहे और हजारो परिवारो के सिर पर श्रावण-भाद्र की वर्षा में एक छप्पर तक न हो। ऐसे मकानो में सैकडो परिवार बसाये जा सकते है और जायेंगे। पेण्यो का परिसीमन भी करना होगा।

प्रत्येक देश के समाजवादी शासको को अपने देश की परिस्थिति के अनुसार काम करना होगा। सिद्धान्त और लक्ष्य सबका एक होगा। सबकी कोशिश यह होगी कि उत्पादन, वितरण और विनिमय के मुख्य साधनो पर सार्वजनिक अधिकार हो और शोषण बन्द हो, ताकि वर्ग-सघर्ष खत्म होजाय और सारे देश में अपनी मेहनत से कमाकर खानेवाले ही देख पड़े, अर्थात् वर्ग-भेद मिट जाय। इस लक्ष्य को सामने रखकर चलने में भिन्न-भिन्न देशो में किञ्चित् भिन्न मार्गों का अवलम्बन करना पड सकता है।

अक्सर लोगो का यह खयाल है कि समाजवादी दस्तकारियो का विरोधी होता है, क्योकि वह मशीनो के प्रयोग का पक्षपाती है। ऐसे लोग यह समझते है कि समाजवादियो के हाथ मे अधिकार आते ही सब हाथ के काम खत्म कर दिये जायेंगे। यह खयाल गलत है। समाजवादी न तो मशीनो के हाथ बिका है, न उसको हाथ की कारीगरी से शत्रुता है। वह इन चीजो पर किसी रूढि का दास होकर विचार नहीं करता। हाथ की कारीगरी प्राचीन है अथच उसमें कोई विशेष धार्मिकता या पूज्यता है, ऐसा वह नही मान सकता। मशीन नई चीज है इसलिए उसका प्रयोग होना ही चाहिए, यह भी कोई अकाट्य नियम नही है। सब बाते परिस्थिति पर निर्भर है।

एक और ख़याल बहुत फैला हुआ है। लोग समझते है कि १७१ समाजवादी पारिवारिक जीवन के शत्रु है और उनके हाथ में अधिकार आते ही विवाह की प्रथा तोड दी जायगी और कौटुम्बिक जीवन का अन्त होजायगा। यह ख़याल भी गलत है। इतना अवश्य है कि समाजवादी स्त्री को पुरुष का गुलाम नही मानता और समाजवादी शासन मे न केवल स्त्रियो वरन् बच्चो के स्वत्वो का भी लिहाज़ किया जायगा। समाजवादी न तो विवाह-प्रथा को नष्ट करना चाहता है, न पारिवारिक जीवन का अन्त करना चाहता है। हां, यह अवश्य है कि बच्चे केवल बाप-माँ की नही, वरन् सारे समुदाय की सम्पत्ति है। उनके भरण-पोषण, शिक्षा आदि का दायित्व सारे समुदाय पर है, अत. बाप-माँ या अन्य अभिभावक इस विषय मे स्वतत्र नही छोडे जा सकते। यदि इस देख-रेख का प्रभाव यह पड़े कि दो-चारसौ बरस या और अधिक समय में पारिवारिक बन्धन धीरे-धीरे ढीला होते-होते आप ही राज की भाँति खत्म होजाय तो इसकी बाबत कुछ कहा नही जा सकता।

समाजवादी धर्म के प्रति क्या करेंगे, इस सम्बन्ध मे बहुत लोगो को चिन्ता है। ऐसे प्रसग में धर्म का अर्थ मजहब या सम्प्रदाय होना है। जहाँतक धर्म का अर्थ मनुप्रोक्त धृतिक्षमादि दशलक्षणात्मक वस्तु से है वहाँतक कोई चिन्ता की बात नही है। वह तो सचमुच सनातन है। पर वैष्णव, शैव, शाक्त, इस्लाम, ईसाई मत, हीनयान आदि सम्प्रदायो के विषय में यह बात नही कही जा सकती। इनकी क्या गति होगी ? इस सम्बन्ध मे इतना निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि समाजवादी राज में किसीकी

उपासना में बाधा नहीं डाली जायगी, पर किसी सम्प्रदाय के साथ कोई खास रिआयत भी न होगी। कोई पद किसी सम्प्रदाय का अनुयायी होने के कारण नहीं दिया जा सकता। यह भी तय है कि सम्प्रदायो की आड़ में जो अनाचार होते है या विशाल सम्पत्तियाँ थोड़े-से व्यक्तियो के भोग की सामग्री बन जाती है उनपर रोक होगी। पर इससे किसी भी सच्चे धर्मभीरु को क्षुब्ध न होना चाहिए। समाजवादियो को यह विश्वास है कि साम्प्र-दायिक झगडो का निपटारा तभी हो सकता है जब उनकी तह में छिपे हुए आर्थिक सघर्षो का निपटारा हो।

यह कहना न होगा कि इस जमाने में जनसाधारण की अवस्था में कल्पनातीत उन्नति होगी। समाजवादी राज इस बात का जिम्मा लेगा कि हर स्वस्थ व्यक्ति को काम दिया जायगा। कोई बेकारी के कारण नगा-भूखा न रहने पायगा। जबतक काम नही दिया जाता तबतक उसका भरण-पोषण सरकारी कोष से होगा। पर काम देने का तात्पर्य वैसा काम देना नही है जैसा हमारे देश मे कभी-कभी क़हत के जमाने में दिया जाता है। काम इतना लिया जायगा जितना स्वास्थ्यकर हो। यह भी ध्यान में रखना होगा कि देश के सब लोगो को काम देना है, अत किसी एक आदमी से बहुत काम कराने का फल यह होगा कि दूसरों की बारी न आयगी। काम अधिक न होने से सबके पास पर्याप्त अवकाश रहेगा। आजकल अवकाश काटने का साधन नहीं मिलता। फुर्सतवाले बहुधा मद्यपान करते, जुआ खेलते या ऐसे ही दूसरे निन्द्य काम करते पाये जाते है। फुर्सत से लाभ उठाने की योग्यता भी सबमें नही है। समाजवादी सरकार पर इसका भी जिम्मा

होगा। वह शिक्षा का व्यापक प्रवन्ध करेगी। बच्चो को ही नही,
बूढो को भी इतिहास, राजनीति, विज्ञान आदि विषयो के भाषण सुनने का मौका मिलेगा। थियेटर, पार्क, वाग, सग्रहालय और चित्रागार, मनोरजन तथा शिक्षा की सामग्री सवके पास पहुँचायेगे। जिस प्रकार किसीका नगा-भूखा रहना राज के लिए लाञ्छन होगा, उसी प्रकार किसी रोगी का औषधोपचार के बिना रह जाना उसका कर्त्तव्य से पतन होगा। जवानी मे अनिवार्य बीमा करके राज सबके बुढापे को निष्कण्टक बना देगा। अदालतो का काम वहुत हलका होजायगा। सम्पत्ति की अवस्था बदल जाने से दीवानी के मुकदमे बहुत कम होजायेगे। खाने-पीने का सुख होने पर ऐसे कामो की ओर भी बहुत कम लोगो की प्रवृत्ति जायगी जो फौजदारी कानून के भीतर आते है। सव लोग इद्रिय-निग्रह करने में समर्थ होजायेगे। ऐसा दावा तो नही किया जा सकता, पर पेट के लिए वेश्यावृत्ति धारण करनेवाली स्त्रियाँ बाजारो को कलुषित करती न देख पडेगी। जागरित लोकमत वहुतसे अपराधो का आप ही दण्ड दे लेगा। क्षुद्र वैयक्तिक स्वार्थो का शमन करके समाजवादी व्यवस्था कला की धात्री होगी।

यह सब होगा, पर हम उस बात की ओर फिर ध्यान आकर्षित करना उचित समझते है जो आरम्भ में कही गई थी—यानी यह कि समाजवादी इस वात को कदापि पसन्द न करेगा कि जो अधिकार उसको इतनी दिक्कत से मिला है वह हाथ से निकल जाय और समाजवाद का प्रयोग अपूर्ण रह जाय। इसलिए वह किसी भी व्यक्ति को ऐसी वातो के कहने या करने का कदापि मौका न देगा जिससे समाजवादी राज आपन्न हो। आलोचना होसकेगी,

१७४ पर एक निश्चित सीमा के भीतर। इसमें भी सन्देह है कि पार्लमेण्ट या इस नाम की किसी अन्य सभा द्वारा शासन होगा या नही। शासन का सारा भार समाजवादियो को प्राय अपने ही ऊपर लेना पड़ेगा।

कुछ लोग यह आक्षेप करते है कि इससे, अर्थात् राज द्वारा लोगो पर कड़ी देख-रेख रहने से, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में बाधा पडती है। हम इसको स्वीकार करते है, पर यह बात वस्तुत उतनी भयावह नही है जितनी कि सुनने मे प्रतीत होती है। सोचना यह है कि किसके व्यक्ति-स्वातन्त्र्य मे रुकावट पड़ेगी। जो लोग नये विधान के साथ होगे, उनको तो डरने की कोई बात नही है। यह भी मानना चाहिए कि वे सब लोग जो आज शोषित और उत्पीडित है, अर्थात् सब शरीर और मस्तिष्क से काम करनेवाले श्रमिक और कृषक, वे लोग जो वर्ग-आधिपत्य और वर्ग-सघर्ष तथा शोषण के विरोधी होगे, वे लोग जो पूँजीशाही और साम्राज्यशाही से व्यथित होगे, नये विधान के साथ होगे। पर ऐसे ही लोगो का नाम तो जनता है। इनको निकालने के बाद तो वही मुट्ठीभर आदमी बच जायेंगे जो अपने क्षुद्र स्वार्थ के कारण पुरानी व्यवस्था को फिर लाना चाहेंगे। ऐसे लोगों के स्वातन्त्र्य पर अकुश लगाना बुरा नहीं होसकता। जो लोग इनकी बिगाडी हुई दुनिया को बनाने का बीड़ा उठाकर चले होगे वे इनको फिर बिगड़ने का मौका तो नही ही दे सकते। इनके प्राण कोई नही लेता। इनको भी औरो की भाँति काम करने का पूरा अवसर है, पर यदि वे इस अवसर से लाभ उठाने का अर्थ यह लगायें कि उनको नये शासन की जड़ खोदने दी जाय तो ऐसी हठधर्मी का लिहाज नही किया जा सकता।

उस जमाने में काम करनेवालों को मजदूरी मिलेगी। मजदूरी के दो रूप हो सकते हैं। रूस में भी दोनों चलते रहे हैं। कुछ मजदूरी तो नकद रुपयों (या उनकी जगह कागज की मुद्रा) में मिलेगी। इससे लोग अपने-अपने शौक की चीजें, जैसे पुस्तकें या चित्र या बाजा या बाइसिकिल खरीद सकते हैं। शेष मजदूरी पण्य के रूप में दी जायगी। प्रत्येक श्रमिक को एक सार्टी-फिकेट मिल जायगा, जिसको दिखलाकर वह अन्न-वस्त्र आदि के भण्डारों से एक निश्चित प्रमाण में इन आवश्यक चीजों को प्राप्त कर सकता है।

मजदूरी में आज जैसी कुव्यवस्था न होगी। राज यह स्वीकार करेगा कि समुदाय के जीवन के लिए सभी मनुष्यों की आवश्यकता है। न तो सभ्य सामूहिक जीवन गणित के अध्यापक के बिना चल सकता है, न सड़क पर झाड़ू देनेवाले के बिना। जो भी व्यक्ति अपने श्रम की कमाई खाता है और कोई ऐसा काम करता है जिसका सामूहिक जीवन में उपयोग है उसके योगक्षेम का भार समुदाय पर है। यह भी मानना होगा कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताओं में भेद होते हुए भी बहुतसे अंशों में सभी मनुष्य बराबर हैं। अत समाजवादी का यह आग्रह है कि देश-काल देख-कर ऐसी मजदूरी नियत होनी चाहिए जिससे जीवन-यात्रा चल सके। उससे कम पारिश्रमिक या वेतन देना और लेना कानून से जुर्म करार देना चाहिए। इस नीचे की सीमा पर ही वेतन और पुरस्कार कायम होंगे।

मजदूरी या वेतन निश्चित करने में एक ही सिद्धान्त से काम लिया जा सकता है, बराबर काम के लिए बराबर मजदूरी दी

जाय। इसीको दूसरे शब्दो में यो कहते है, जो जैसा और जितना काम करे उसको वैसी और उतनी मजदूरी दी जाय। यह सिद्धान्त आजकल भी माना जाता है, यद्यपि इसका व्यवहार ठीक-ठीक नही किया जाता। लोग इसको न्यायमूलक समझते है, क्योकि ऐसा प्रतीत होता है कि इससे सबके स्वत्वों की उचित रक्षा होती है। परन्तु विचार करने से प्रतीत होता है कि न इसमे न्याय है, न सबके स्वत्वो की रक्षा। जैसा कि 'क्रिटीक आव दि गोथा प्रोग्राम' मे मार्क्स ने कहा है, बराबर श्रम और सामूदायिक पण्य भण्डार मे बराबर भाग (अर्थात् बराबर मजदूरी) की अवस्था मे वस्तुत एक व्यक्ति को दूसरे से अधिक मिलता है, एक व्यक्ति दूसरे से अमीर होता है। इन दोषो को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि स्वत्व बराबर नही किन्तु विषम हो। सुनने में तो यह बात आश्चर्य की प्रतीत होती है कि समता से अन्याय और विषमता से न्याय होता है, पर जैसा कि लेनिन ने कहा है, "हक का अर्थ है एक ही मानदण्ड से विभिन्न व्यक्तियो को, जो एक-दूसरे के बराबर नही है, नापना। इसीलिए 'बराबर हक़' वस्तुत बराबरी का उच्छेदक और अन्याय है।"

आज से कुछ काल पहले प्रमुख समाजवादियो को यह आशा थी कि बहुत शीघ्र विश्वक्रान्ति होजायगी और सारी पृथ्वी पर समाजवादी व्यवस्था कायम होगी। इच्छा तो ऐसी अब भी है, पर उसके शीघ्र फलीभूत होने की आशा अब उतनी तीव्र नही है। जबतक वह दिन नहीं आता तबतक जो देश अपने सामूहिक जीवन को समाजवादी सांचे में ढालना चाहेगा उसे बलवान पूंजीवादी देशो के मुकाबिले के लिए तैयार रहना पडेगा। वह उनका प्रत्यक्षरूप

मे कुछ न बिगाड़ता हो, पर किसी भी देश में समाजवादी शासन का सफल होना पूंजीवादियो को बुरा लगता है। वे समझते है कि इससे लोगो का विश्वास समाजवाद की व्यवहार्यता पर जम जाता है। इसलिए प्रत्येक समाजवादी देश को प्रत्येक पूंजीवादी देश अपना नैसर्गिक शत्रु समझता है। आज रूस को इसका अनुभव हो रहा है। इस विद्वेष का सामना करने के लिए समाजवादियों को अगत्या राष्ट्रीय नीति बरतनी पड़ेगी। समाजवाद का सिद्धान्त अन्तरराष्ट्रीय है, पर समाजवादी शासन को कई अंशों में राष्ट्रीय सरकारों का अनुकरण करना होगा। दूसरो के स्वत्व का अपहरण वे न करेंगे, पर अपनी रक्षा के लिए बलवान सेना रक्खेंगे। सारे राष्ट्र को सैनिक शिक्षा ग्रहण करनी होगी। इतना ही नहीं, पूंजीवादी देशो में से कुछ के साथ संधि और मैत्री करने की भी आवश्यकता पड़ सकती है। उनका लक्ष्य यह होगा कि पराधीन देशो को स्वाधीन बनने में सहायता दें और [illegible] सरकारो या अधिनायकों के चंगुल में फँसने से बचावें। राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय भावो का समन्वय कठिन होते हुए भी असम्भव नहीं है, क्योंकि समाजवाद राष्ट्रीय [illegible] का [illegible] विरोधी और राष्ट्रीय संस्कृति की रक्षा का समर्थक है।

परन्तु अपनी वैदेशिक नीति में [illegible] और पहले से इंगित दिशाओं में [illegible] कोई देश अपने को पूरा समाजवादी नहीं कह सकता। [illegible] समाजवाद की ओर ले जाती है [illegible] बहुत दूर है, पर शुद्ध समाजवाद [illegible] हलका, बहुत हलका, [illegible]

बाद भी रूस का यह दावा नही कि उसने पूर्णरूपेण समाजवादी व्यवस्था कायम करली है। जो कुछ अबतक हुआ है, वह मार्ग के बडे स्टेशन के तुल्य है। इसलिए इस अवस्था को समाजवादी व्यवस्था का प्रथम सोपान कहते है।

समाजवादी व्यवस्था क्रान्ति के बाद भले ही स्थापित हो, पर उसका जन्म पूंजीवादी व्यवस्था के गर्भ से ही होगा, अत वह उसके दोषो से एकदम मुक्त नही हो सकती। वर्त्तमान अतीत से अपना पीछा नही छुडा सकती।

इस समय कामो का विभाग ऐसा है कि उसमे कोई ऊंचा कोई नीचा माना जाता है। कामो का बँटवारा आगे भी रहेगा, पर यह ऊँचे-नीचे का भाव क्रमश मिट जायगा।

इसके लिए शिक्षा की आवश्यकता है। शिक्षा पुस्तको मे तो मिलती ही है, उसका बहुत बडा साधन मनन है। सिद्धान्तो पर विचार करना, अच्छे लोगो को काम करते देखना, सामुदायिक प्रयोगो की सफलता और असफलता के कारणो पर गौर करना, दूसरो के साथ मिलकर सार्वजनिक हित के कार्य करना, ये सब शिक्षा के साधन है। सच्ची शिक्षा का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति की कर्त्तव्य-बुद्धि जागती है। जहाँ साधारण मनुष्य को कर्त्तव्य-पथ पर लगाने के लिए पुरस्कार और दण्ड की जरूरत पडती है वहाँ सच्छिक्षा-मण्डित मनुष्य अपनी आन्तरिक प्रेरणा से काम करता है। उसकी स्वार्थबुद्धि तिरोहित होजाती है और उसे स्वहित और लोकहित में कोई भेद नही प्रतीत होता। वह 'सर्वभूतहितेरत' इसलिए नही होता कि उसको इहलोक या परलोक मे किसीको खुश करना है, वरन् इसलिए कि लोकसग्रह उसकी

बुद्धि का स्वाभाविक अभ्यास होगया है। उसको यह खयाल भी
नही आता कि मै दूसरो का उपकार करने जा रहा हूँ, वरन्
समाजोपयोगी काम उसको आप ही आकृष्ट करते है।

कुछ लोगो को यह शका रहती है कि समाजवादी व्यवस्था को पुरस्कारो का अभाव विफल कर देगा। आज जो मनुष्य कोई नई बात खोज निकालता है या अधिक परिश्रम करता है उसको अधिक रुपये मिलते है और वह इन रुपयो को बढा सकता है। यह प्रलोभन लोगो से काम कराता है। समाजवादी व्यवस्था में बहुत रुपया भी न लगेगा, पूंजी भी न जुट सकेगी, फिर कोई अपना दिमाग क्या लगायगा, या दूसरो से अधिक परिश्रम क्यो करेगा? इसका उत्तर यह है कि प्रलोभन पर काम करना अशिक्षा और असस्कृति का द्योतक है। ससार के जितने स्थायी काम हुए है वे रुपये के लोभ से नही हुए है। न तो व्यास को किसीने रुपये दिये थे, न शकराचार्य को। फिर उन्होने अपने अपूर्व दार्शनिक ग्रन्थ क्यो लिखे? चरक को किस विश्वविद्यालय में नौकरी मिली और बाल्मीकि के हाथ पर किस प्रकाशक ने चार पैसे रक्खे? तुलसीदासजी ने क्या यह झूठ कहा है कि उन्होने रामायण को 'स्वान्त सुखाय' लिखा? यह कहने से काम नही चल सकता कि ये लोग असाधारण महापुरुष थे। हम इस बात को स्वीकार करते है, पर यह भी देखते है कि ये महापुरुष ही सब लोगो को इन्द्रिय-निग्रह, अस्तेय, निर्लोभिता आदि का उपदेश देते है। इसका अर्थ यह है कि इनकी राय मे साधारण मनुष्य का अन्त करण सदा के लिए पतित और स्वार्थी नही है। यदि उसपर का कषाय साफ कर दिया जाय तो वह निर्मल होसकता है। समाजवादी भी ऐसा ही

मानता है। उसको मनुष्य की नैसर्गिक पवित्रता पर विश्वास है। पर वह देखता है कि कुशिक्षा और बुरी परिस्थिति ने लोगो को ऐसा लालची बना दिया है कि बिना पैसे के कोई काम नहीं करना चाहते। यदि परिस्थिति में सुधार होजाय, अर्थात् शोषण मिट जाय और सबके लिए मानवोचित सुविधायें मिल जायँ तथा उसके साथ ही उत्तम शिक्षा दी जाय, तो फिर प्रलोभनो की आवश्यकता न रहेगी, प्रत्युत् लोग शौक मे और केवल लोकहित के भाव से प्रेरित होकर अपनी पूरी शक्तिभर काम करेगें। न कोई शारीरिक श्रम से जान चुरायगा, न बुद्धि से काम लेने से रुकेगा। जब काम में ऊँच-नीच का भाव मिट जायगा, जब काम लोकसेवा की दृष्टि से किया जायगा, जब श्रम जीवन का एक आवश्यक अग बन जायगा और सब लोग स्वत अपनी पूरी योग्यता और शक्तिभर काम करने लग जायँगे, उसी समय सच्ची लोकतन्त्रता सम्भव होगी, क्योकि उसी समय मनुष्य सचमुच मनुष्य होगा और सब मनुष्यो का बराबर माना जाना सम्भव होगा। बराबरी का अर्थ यह नही है कि किसीमें विशेष प्रतिभा न होगी या प्रतिभावालो की पूछ न होगी। वस्तुत प्रतिभा की तभी कद्र हो सकती है जब ईर्षा-द्वेष का तिरोभाव हो और प्रतिभावान् व्यक्ति समुदाय का विशेष समर्थसेवक, अथच सम्मान्य माना जाय। उसी समय मजदूरी के अन्याय का भी अन्त होगा। जब बिना किसी दबाव या लालच के सभी अपने सामर्थ्यभर श्रम कर रहे होंगे, उस समय किसीके श्रम की नाप-तौल करने की आवश्यकता न होगी।

उस समय समाजवादी व्यवस्था उन्नत अवस्था को प्राप्त होगी। इस अवस्था को दूसरा सोपान कहते है।

इसके बाद सरकार का क्या रूप होगा ? न तो उस समय
कोई ऐसा वर्ग रह जायगा जिसका दमन करना हो, न लोगो से जबरदस्ती काम लेना पडेगा, न भोग्य वस्तुओ का मजदूरी के के रूप में वितरण करना रह जायगा, फिर सरकार के जिम्मे क्या काम रहेगा ? उद्योग-व्यवसाय की व्यवस्था की तब भी आवश्यकता रहेगी। यदि कोई दुष्ट प्रकृति या श्रम से जान चुरानेवाला पैदा हो ही गया तो उसका भी नियत्रण करना होगा। पर जहाँ लोकमत इतना जागृत होगा वहाँ इन कामो मे सभी लोगो को अभिरुचि होगी और किसी विशेष सगठन की आवश्यकता न होगी। जनता विभिन्न कामो के लिए समितियाँ और परिषदे बनायेगी, पर इन सस्थाओ की समता आजकल की दण्डधारी सरकारो से न होगी। काम के अभाव से सरकार आप ही न रह जायगी। परन्तु जब सरकार ही नही तो राज कैसा ? राज की सत्ता का भी लोप होजायगा और एगेल्स के शब्दो मे उस चरमावस्था में विना किसी प्रयास के "राज मुर्झाकर झड जायगा।"

वह दिन कब आयगा, यह हम नही कह सकते। कभी आयगा भी या नही, यह भी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। जैसा कि लेनिन ने 'दि स्टेट एण्ड रेवोल्यूशन' मे कहा है, "यह बात किसी समाजवादी के दिमाग मे नही आई कि वह यह वादा करे कि यह चरमावस्था अवश्य आ जायगी।" पर द्वन्द्व न्याय के अनुसार अब-तक की प्रगति की जो कुछ आलोचना की जा सकती है, उमने ऐसी आशा और दृढ आशा की जा सकती है कि पृथ्वी के भाग्य जागेगे और वह उस दिन को देखेगी। अभी वह काल बहुत दूर है, परन्तु क्षितिज पर उसकी धुन्धली आभा देख पडने लगी है।

: १० :

गाँधीवाद बनाम समाजवाद

[ले०—श्री जयप्रकाशनारायण]

गाँधीजी ने अबतक ब्योरेवार और सीधे तौर पर यह नही बताया है कि उनके स्वराज्य के अन्दर समाज का निर्माण किस आधार पर होगा, वह कैसा होगा, इसलिए यह कहना मुश्किल है कि समाजवाद के बदले में वह हमे क्या देने जा रहे है, लेकिन उनके कुछ वक्तव्य है, उनके कुछ लेख है, जिनसे इस सम्बन्ध मे कुछ अन्दाज लगाया जा सकता है। उनके अनुयायियो की नजर में ये चीजें समाजवाद की जगह एक नये ढग के समाज का खाका हमारे सामने रखती है। वे तो यहाँतक कह बैठते है कि 'गाधीवाद ही हिन्दुस्तान के लिए सच्चा समाजवाद है।' गाँधीजी ने भी जब-तब 'स्वदेशी समाजवाद' या 'हिन्दू धर्म का मौलिक विचार' 'भारत की अपनी प्रतिभा' ऐसी शब्दावलियो का व्यवहार किया है। इसका मतलब यह होता है कि शायद उनकी यह धारणा है कि उनका यह 'स्वदेशी समाजवाद' हिन्दुस्तान की जलवायु के लिए पाश्चात्य ढग के समाजवाद की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है।

पहले हम यही विचार करले कि गाँधीजी समाज के निर्माण के बारे में जो विचार रखते है क्या वह सच्ची 'स्वदेशी' और 'भारतीय प्रतिभा' का चमत्कार है? हमें तो ऐसा नही दिखाई पडता। पाश्चात्य देशो के बहुतेरे लेखको और विचारको ने ठीक गाधीजी के ढर्रे पर लिखा है और कहा है। उनकी तर्क-प्रणाली का मूलाधार एक है—हाँ, किसीने किसीपर जोर दिया है,

किसीने किसीपर। 'वर्ग-युद्ध' एक बेवकूफी की बात है, पूँजी और मजदूरी एक-दूसरे पर निर्भर और एक-दूसरे के लिए आवश्यक है, क्रान्ति तो ध्वंसात्मक है, समाज के द्वन्द्वात्मक वर्गो का समन्वय क्रान्ति की अपेक्षा कही अच्छा है। मुनाफा, मजदूरी और कीमत पर विचारपूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए। जमींदार और पूँजीपति धन और जमीदारी के ट्रस्टी है—ये बाते पाश्चात्य देशो के प्रोफेसरो, विचारको और धर्मोपदेशको ने बार-बार दुहराई है। कुछ दिनो पहले इग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध लेखक एच० जी० वेल्स और सोवियट रूस के डिक्टेटर स्टालिन मे जो बाते हुई थी, उसमें वेल्स ने स्टालिन के समक्ष यही दलीले पेश की थी, जो गांधीजी हमारे यहाँ कहा करते है। उसने कहा था कि यह वर्ग-युद्ध बेवकूफी और खुराफातो से भरी हुई चीज है, पूँजीवाद का खात्मा वर्गों के हितो के समन्वय से ही सिद्ध हो सकता है, जरूरत है तो सही नेतृत्व की। गांधीजी पूँजीपतियो के हृदय का परिवर्तन चाहते है, वेल्स साहब भी यही चाहते है।

स्वर्गीय रैमजे मैकडानल्ड अपने समाजवादी दिनो में वर्ग-युद्ध के विरुद्ध थे। एक जगह उन्होने लिखा है—पूँजी और मजदूरी दोनो को समाज की सेवा करनी है और समाज के नेताओ का यह कर्त्तव्य है कि वे इन दोनो मे आज जो सघर्ष है उसको खत्म करने और उनमें समन्वय स्थापित करने के तरीके ढूँढें। नि सन्देह अपने इस समाजवाद को मैकडानल्ड इग्लैण्ड का 'स्वदेशी समाजवाद' कहते थे, लेकिन सभी स्वदेशी समाजवादियो की तरह इसकी क्या गति हुई, यह जग-जाहिर है। मैकडानल्ड साहब ने कट्टरपथियो और पूँजीपतियो के स्वार्थ में अपने समाजवाद को विलीन कर दिया।

'जमींदार और पूंजीपति ट्रस्टी हैं'—इस सिद्धान्त के शुद्ध भारतीय होने पर बहुत नाज़ किया जाता है और कहा जाता है कि हमारे देश की अहिंसा-नीति के यह बिलकुल अनुकूल है; लेकिन विलियम गोडविन ने अपनी "पोलिटिकल जस्टिस" नामक पुस्तक में इसका प्रयोग किया है। उसने लिखा है—"सभी धार्मिक सदाचारों का एक ही आधार है और वह है धन के सम्बन्ध में किया गया अन्याय, इसलिए सभी धर्मों के प्रवर्तकों ने अपने धनी चेलों से कहा है कि उन्हें यह समझना चाहिए कि जो धन उनके पास है उसके वे ट्रस्टी हैं, उसमें खर्च के एक-एक ज़र्रे के वे जवाबदेह हैं। उनका काम केवल व्यवस्था करना है; किसी भी हालत में वे उसके मालिक या प्रभु नहीं हैं।" देखिए, गोडविन आज से डेढ़ शताब्दी पहले हुए थे, अत जो लोग गांधीजी के इस सिद्धान्त को हिन्दुस्तान का शुद्ध स्वदेशी सिद्धान्त कहकर खुश होते हैं, उन्हें इस तरह खुश होने का कोई सबब नहीं है।

साफ बात यो है कि सुधारवाद और क्रान्तिवाद में शुरू से ही झगड़ा है। गांधीजी के जो विचार हैं, वे सुधारवादी हैं—उनकी भाषा भले ही हिन्दुस्तानी हो, लेकिन उसका मूल तो अन्तर्राष्ट्रीय है। सुधारवाद का सबसे मुख्य काम यह है कि वह समाज की प्रचलित व्यवस्था को कायम रखना चाहता है। उस व्यवस्था को खत्म करनेवाली शक्तियों को देखते ही वह चौकन्ना होजाता और उन्हें नपुंसक बना देना या सदा के लिए चुप कर देना चाहता है, इसीलिए वह सदा स्वार्थों के समन्वय के राग अलापा करता है। गांधीजी जमींदारों और पूंजीपतियों से यही कहा करते हैं कि आप अपने किसानों और अपने मजदूरों की हालत सुधारिए,

उनमे अच्छा सम्बन्ध स्थापित कीजिए। बस, फिर न कहीं यह
कम्बख्त वर्ग-युद्ध रहेगा, न असतोष रहेगा, न विद्रोह रहेगा, न उखाडफेंक रहेगा। सुधारवाद का काम समाज मे न्याय की स्थापना नही है। उसका काम है समाज मे जो दरारे पड गई है, उन्हे किसी तरह मूंद देना।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना के बाद गांधीजी से अवध के ताल्लुकेदारो ने भेंट की थी और समाजवादी पार्टी के जमीदारी, पूंजीशाही और व्यक्तिगत सम्पत्ति उठा देने के निर्णय पर सख्त नाराजगी जाहिर करते हुए उनसे सरक्षण मांगा था। उस अवसर पर गांधीजी ने जो कुछ कहा था, हम उसके कुछ उद्धरणो को ही देखे। उन्होंने कहा था—"मैं जिस रामराज्य का स्वप्न देखता हूं, उसमे राजाओ और भिखारियो—दोनो के अधिकार सुरक्षित रहेगे।"

सच पूछिए तो गांधीजी की सामाजिक 'फिलासफी' का यही मूलमत्र है। उनके स्वप्न में रामराज्य में राजाओ के साथ-साथ बेचारे भिखारी भी विद्यमान रहते हैं। इसमे शक नही कि गांधीजी उन भिखारियो के हक की हिफाजत करना चाहते हैं। यद्यपि हमें यह भी नही बताते कि उन बेचारो के हक क्या होगे और उन्हे लेकर वे अभागे क्या करेगे, लेकिन सबसे मनोरजक, नही, नही, हैरत में डाल देने वाली बात तो यह है कि गांधीजी के उस सपने के रामराज्य में भी कुछ लोग भिखारी बने ही रहेगे!

'रामराज्य'—और 'भिखारी' और राजा दोनो का! क्यो नही? भला भिखारी नहा रहेगे, तो ये 'उन्नत विचार वाले', 'उदार', 'दानी', अपनी आत्मा की महान् उदारता और सदाशयता

का परिचय देकर किस तरह मानवी स्वभाव का हिन्दू आदर्श पेश करेंगे।

भला समाज में कोई आदमी भिखारी क्यों रहे? समाजवाद का यह मूल प्रश्न गांधीजी के दिमाग में कभी उठा ही नहीं—उठ भी नहीं सकता, क्योंकि गांधीजी की नीति के सफल होने के लिए यह अत्यावश्यक है कि समाज में कुछ लोग भिखारी रहें।

कुछ लोग कहते हैं, गांधीवाद और समाजवाद में अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का भेद है। यह बात गलत है। भेद है तो वह ऊपर का सवाल। समाजवाद आर्थिक असमानता के कारणों का अनुसन्धान करता है। राजाओं, जमींदारों, पूंजीपतियों और भिखारियों की उत्पत्ति के मूलाधारों की खोज-ढूंढ करता है और खोज-ढूंढ करता है मानवी शोषणों के रहस्यों की। इस खोज-ढूंढ और जांच-पड़ताल के बाद जब समाजवादी उनकी जड़ का पता लगा लेता है, तो उसे उखाड़ फेंकता है; वह सामाजिक बुराइयों के मूल पर ही कुठाराघात करता है।

लेकिन गांधीवाद इन प्रश्नों पर विचार करना भी जरूरी नहीं समझता। उसके मन में तो यह सवाल भी नहीं उठता कि क्या बात है कि मुट्ठीभर लोग राजा, जमींदार और पूंजीवादी बनकर गुलछर्रे उड़ा रहे हैं और बाकी पूरा समाज या तो भिखारी बन चुका या बनने की तैयारी में है? वह समाज की नीची और ऊंची सतह को स्थायी मान लेता है और फक्त यही चाहता है कि ऊपर की सतह के लोग नीची सतह के लोगों से जरा रहम का बर्ताव रक्खें। उसमें यह हिम्मत नहीं होती कि वह इसकी जांच करे कि जमींदारों और पूंजीपतियों का यह धन आता कहां से है। वह इतना ही कह-

कर सतोष कर लेता है कि 'भाई, अपनेको इन गरीबो का ट्रस्टी समझो और धन का उपयोग इनके हित मे ही करो।'

एक समाजवादी के लिए यह फिलासफी धोखेबाजी है—धोखेबाजी अपने प्रति और शोषित जनता के प्रति। हम समाजवादी डके की चोट यह कहते है कि जमीदारो और पूंजीपतियो का यह धन किसानो और मजदूरो की मेहनत से ही पैदा हुआ है, इसलिए प्राउधन के कथनानुसार 'चोरी का माल' है। इस चोरी को छिपाना, इसे बेपूछेताछे चलने देना, नही, इसपर पवित्रता की पुट देना तो नि सन्देह धोखेबाजी है, भले ही यह धोखेबाजी आप अनजाने ही क्यो न कर रहे हो।

ये ऊँची सतह के लोग केवल चोरी के ही अपराधी नही है, ये तो हिसा के भी अपराधी है, क्योकि इस चोरी के माल को वे हिसा के बल पर ही अपने कब्जे में लिये हुए है। अगर सगठित हिसा का और उसको सही साबित करनेवाले वर्गगत कानून का भय न हो, तो किसान और मजदूर कल ही जमीन और कारखानो पर कब्जा करले।

राजाओ, जमीदारो और पूंजीपतियो के अधिकारो पर चूंचरा न करके गांधीजी ने इस बडे पैमाने पर और सगठित रूप में होनेवाली चोरी और हिसा पर चुप-चाप मोहर लगादी है। चुप-चाप ही नही, उन्होने तो खुलेआम और ऐलानिया तौर पर इसको मान लिया है। उन्होने तो अवध के ज़मीदारो से साफ-साफ कह दिया है कि यदि कोई उन ज़मीदारो की सम्पति को लेना चाहेगा, तो वह (गांधी जी) खुद लड़ेंगे। और इसके कुछ दिन पहले ही उन्होने अहमदावाद के पूंजीपतियो से कह दिया था कि उन्हे अधिकार है कि वे

धन इकट्ठा करे। गांधीजीने इन धनियो से यह भी कहा कि वे इस धन को किसानो और मजदूरो के ट्रस्टी की हैसियत से ही रक्खे, इस धन में उनका बराबर का हिस्सा है। इस धन को वे ग़रीबो के हित के लिए ही खर्च करे और वे उन्हे एक परिवार के सदस्यो की तरह ही माने। यही गांधीजी का शुद्ध स्वदेशी समाजवाद है, जिसमें मजदूरो और पूँजीपतियो, जमींदारो और किसानो में हार्दिक सहयोग होगा।

थोडे ही गौर से देखने पर इस कथन की अस्पष्टता और परस्पर विरोध प्रकट होजाता है। मान लीजिए कि जमींदार 'ट्रस्टी' है। अब सवाल यह उठता है कि धन के किस हिस्से को वह ट्रस्ट समझे—समूचे को या किसी हिस्से को। अगर किसी हिस्से को, तो वह हिस्सा क्या हो और उसे कौन निश्चय करेगा? अगर उसका किसान उसके धन का बराबर का हिस्सेदार है, तो इस बराबर के ठीक मानी क्या है? क्या इसका मतलब यह है कि धन का आधा हिस्सा जमींदारो का है और आधा किसानो का? या इसका मतलब यह है कि जमींदार और किसान दोनो ही मिलकर बराबर-बराबर के हिस्सेदार है? फिर कोई हिस्सेदार 'ट्रस्टी' किस तरह होसकता है? 'एक ही परिवार के व्यक्ति' का क्या मतलब? क्या इसका मतलब यह हुआ कि किसानो का यह हक है कि वे जमींदारो के महलो में डेरा डाले और उनकी चमकती सवारियो पर शहर की सैर करे? 'हार्दिक सहयोग' का ही क्या मतलब? यह सहयोग कौन लायगा?

ये सवाल ऐसे नही है कि इन्हे यो हलके-हलके 'नज़र-अन्दाज़' कर सके। फिर, और भी वज़नदार और अहम सवाल है।

क्या किसानो और मजदूरो का धन पर उतना ही अधिकार
है, जितना कि उनके मालिको का ? गाँधीजी के पास इसको
मान लेने का कौन-सा प्रमाण है ? यदि यह कहा जाय कि किसानो
और मजदूरो का बराबर हिस्सा इसलिए है कि वे ही धन पैदा
करनेवाले है, तब वे अपनी पैदा की गई चीज को दूसरो के हाथ मे
क्यो सौप दे ? क्यो उनसे कहा जाय कि उन्हे दूसरो के हाथ मे सौप
दो, जो तुम्हारे लिए ट्रस्टी का काम करेगे ? क्या इसलिए कि
जिसमे ये बडे लोग अपनी उदारता का विपुल प्रदर्शन करते फिरे ?

हम इस सवाल को दूसरे छोर मे ही ले। ये धनी लोग ही
ट्रस्टी का काम क्यो करे ? वे ऐसा क्यो न कहे कि यह धन तो
हमारा है, इसे हमने अपने दिमाग और अपनी पूंजी से पैदा किया
है और किसीको इस पर दावा करने का दम नही है ?

यदि धनियो का धन उनका अपना नही है, तो यह कौन-सा
न्याय है कि उन्हे उसे रखने और उसके बल पर उदारता दिख-
लाने के लिए उत्साहित किया जाय ? और अगर यह उचित तरीके
तरीके से अर्जित धन है, तो फिर किसीको क्या हक है कि कहे
कि इसे तुम दूसरे को दे दो ? अगर गरीब भूखो मरते है, तो मरने
दीजिए। इसमे धनी बेचारो का क्या कसूर ?

इस तरह यदि हम ब्योरेवार देखते है तो गांधीवाद [illegible]-
पूर्ण आर्थिक विश्लेषण, शुभ और महान् सदिच्छाओ और प्रभाव-
शून्य नैतिकता की एक खिचडी मात्र है।

उपाय केवल दो ही है। या तो मान लीजिए कि धनियो का
धन अन्याय से उपार्जित है और [illegible],
या मान लीजिए कि उन्होने न्यायपूर्वक उसे उपार्जित किया है,

इसलिए भलेमानस की तरह चुप्पी मार कर बैठिए। इसका तो कोई मतलब नही होता कि आप गरीबो को फकत यह जनाने के लिए कि मै तुम्हारी सुध भूला नही हूँ, चिकनी-चुपडी उदारता की बाते कहा करे।

सवाल नैतिकता या सदाचार का नहीं है, यह समस्या तो धन और उसके उत्पादन के वैज्ञानिक विश्लेषण की है। इस समस्या का हमें साहस से सामना करना चाहिए, न कि भावुकता के बुर्के में उसे ढँक देना चाहिए। कार्ल मार्क्स ने पूँजीवादी धन का विश्लेषण कर और यह साबित करके कि धन कमाने के लिए मजदूरो का शोषण आवश्यक होजाता है, मानवता का महान् उपकार किया है। पूँजीपतियो के टुकडो पर पलनेवाले प्रोफेसर उसे इस अपराध के लिए आजतक भी क्षमा नही कर सके है।

एक बात और रह जाती है। इस ट्रस्टी के सिद्धान्त को आखिर काम में किस तरह लाया जायगा ? गांधीजी धनियो को गरीबो के ट्रस्टी बनने के लिए किस तरह प्रभावित करेगे ? क्या उनकी नैतिकता को अपील करके, उनके दिलो के अन्दर पहुँच कर ? उन्होंने उन जमीदारो से कहा कि 'मै चाहता हूँ कि मै आपके दिलो में समाऊँ और उन्हे परिवर्तित करूँ, जिससे आप यह अनुभव कर सके कि वास्तव में यह धन आपकी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं, वरन् किसानो का ट्रस्ट है और आप उन्हींकी भलाई में इसको खर्च करेगे।"

हमें शक है, हमारे कुछ भाई इसे भी भारतीय संस्कृति की देन समझेंगे। लेकिन सचाई यह है कि दुनिया के सभी बडे धार्मिक उपदेशको ने इसी तरीके का इस्तेमाल किया था। उन उपदे-

शकों को इसमें कितनी सफलता मिली, इसका साक्षी इतिहास
है। अब गाँधीजी अपनी जादू की छड़ी लेकर आये हैं और एक नया इन्द्रजाल हमें दिखाना चाह रहे हैं।

मुझे मालूम नहीं कि उन जमींदारों के दिलों को गाँधीजी की बात बदल सकी या नहीं। ये जमींदार बड़े लाट और छोटे लाटों से भी इसी तरह मिलते और गिडगिडाते रहे हैं। हाँ, यह तो साफ ही है कि गाँधीजी की बातचीत से उन्हें तसल्ली जरूर हुई होगी और उनमें से कुछ तो गाँधीवाद के कट्टर समर्थक बन गये हैं। गाँधीवादी बनने में उन्हें लगता ही क्या है? बस मौके-बेमौके चन्दा दे देना, जिसकी रकम भी उन्हें वापस मिल ही जाती है। अखबारों में उनकी तारीफें और तसवीरें निकलती हैं और इस प्रशंसा का प्रयोग वे अपनी व्यापारिक तरक्की के लिए करते हैं।

गाँधीजी ने उस मुलाकात में यह भी कहा है कि उन्होंने पूँजीपतियों से भी कहा है कि वे ऐसा सदा अनुभव करें कि ये मिलें केवल उनकी नहीं है, वरन् मजदूरों के भी इनमें हिस्से हैं। अफसोस की बात यह है कि हमें इसका पता नहीं कि गाँधीजी को इस दिशा में सफलता मिली है या नहीं। गाँधीजी का सम्बन्ध अहमदाबाद के मजदूर-संघ से भी है। क्या वह या उनके कोई अनुयायी हमें बतायेंगे कि संघ और मिल-मालिकों के संघर्ष के दरम्यान इस तरह के हृदय-परिवर्तन का कोई लक्षण दीख पड़ा है? क्या यह ठीक नहीं है कि ये मिल-मालिक जब कभी झुके हैं, तो संघ की शक्ति के डर से, आम हड़ताल के डर से? गाँधीजी के समझौतों को तो उन्होंने बार-बार तोड़ा है, यद्यपि उन समझौतों की शर्तें ऐसी कभी न रही हैं कि मिल-मालिकों को कोई यथार्थ त्याग करना पड़े।

: ११ :

गाँधीवाद या मार्क्सवाद

[ले०—श्री राहुल सांस्कृत्यायन]

मेरी राय में हिन्दुस्तान की सर्वसाधारण जनता को उन्नति की ओर ले जाने के लिए इसके अतिरिक्त कोई चारा नही कि हम साम्यवाद या सोशलिज्म की ओर अग्रसर हो। वही एक ऐसा मार्ग है जिससे अब हम आगे बढ सकते है।

मैने बहुत दिनो तक परिश्रम के साथ भारत मे प्रचलित पूँजीवाद और जमीदारी की प्रथा का अध्ययन किया है। खासकर अपने प्रान्त बिहार में मैंने इस सम्बन्ध में गम्भीर निरीक्षण भी किया है। अन्त मे मै इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि यदि हम भारतीय जनता के उद्धार के इच्छुक है, तो पूँजीवाद की इन प्रथाओ का हमे अन्त करना ही होगा। जबतक इनको हम जड से उखाडकर नही फेक देते, जनता के कष्ट किसी प्रकार भी दूर नही हो सकते। मेरा दृढ विश्वास है कि इन प्रथाओ मे अब कोई जीवन-शक्ति शेष नही रह गई है। अब इन्हे बदलना ही पडेगा। उद्योग-धन्धो की दृष्टि से अभी देश में यद्यपि कुछ भी नही हुआ, लेकिन देश शीघ्र ही अपना उद्योगीकरण करेगा, इसलिए यह आवश्यक है कि जमीदारी प्रथा के साथ ही साथ मिलो से फैल रहे पूँजीवाद का अभीसे नाश प्रारम्भ कर दिया जावे।

गाँधीवाद ने देश में जो जागृति फैलाई है, उससे कौन इनकार कर सकता है? मै समझता हूँ कि गाँधीवाद ने जनता को बहुत लाभ पहुँचाया है और उसीका यह फल है कि हम आज जाग उठे

है, और हमारी जनता भी अपने अधिकारो को पहचानने लगी
है। इन सब बातो को स्वीकार करते हुए भी मै समझता हूँ कि गाधीवाद ने अधिकाश में अपना कार्य समाप्त कर लिया। उसकी समाप्ति कर जनता को साम्यवाद की ओर अग्रसर करना चाहिए। इसीमें देश के लोगो का कल्याण है।

गाँधीवाद से भय

मुझे भय है कि गांधीवादियो तथा कांग्रेस ने जो नीति आज इख्तियार करली है, वह जनता को आगे नही ले जा सकेगी। इससे वह पूंजीपतियो, जमीदारो व मिल-मालिको की सहायक हो जावेगी और इन लोगो का सर्वसाधारण जनता पर प्रभुत्व बढाने का कारण बन जावेगी। उच्च कांग्रेसी नेताओ के लिए इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नही कि वे नि सकोच तथा निर्भय होकर साम्यवादी हल को स्वीकार करले और उसके सिद्धान्तो को क्रियात्मकरूप में जनता के सम्मुख पेश करे। मुझे सन्देह है कि पूंजीवादी-वर्ग के कांग्रेसी नेता जनता के प्रति अपनी वफादारी कायम रख सकेगे। बहुत सम्भव है कि उनपर रोक-थाम नही रक्खी गई तो वे जनता को ऐन मौके पर धोखा दे दे और उसके अधिकारो को कुचल डाले। कांग्रेस का इतिहास और नीति नही बदली, तो मजदूर और किसान जनता के दु ख दूर होने की कोई सम्भावना नही।

मैंने निश्चय किया है कि मै भी एक मजदूर बनूंगा, ताकि मै इस समस्या को और भी अच्छी तरह समझ सकूं। इससे मजदूर और किसानो में भी कार्य करने मे काफी सुविधा रहेगी और मै उनकी कठिनाइयो से परिचित हो एक अच्छा खासा मजदूर बन सकूंगा। मेरी राय में हमारा अगला कदम इसी दिशा मे उठना चाहिए।

: १२ :

गाँधीवाद और समाजवाद

[लेखक—श्री एम० एन० राय]

गाँधीवाद और समाजवाद के विषय पर कुछ कहना या लिखना कठिन काम है। फिर भी मैंने इस विषय पर कुछ लिखना चाहा है तो इसका मुख्य कारण यही है कि इस विषय पर लोगो में काफी भ्रम फैला हुआ है। सबसे पहले मैं पाठको से यह निवेदन करूँगा कि वे इन पंक्तियो को पढते समय इस बात को ध्यान में रक्खें कि गाँधीवाद और समाजवाद की तुलना करने और उन दोनो का पारस्परिक भेद बताने में मेरा कभी भी यह इरादा नहीं है कि मैं गाँधीवाद की निन्दा करूँ। मैं प्रत्येक विषय को बौद्धिक दृष्टिकोण से देखा करता हूँ। भावावेश का मुझपर कम प्रभाव होता है। जब मेरे सामने कोई बात होती है, तो मैं उसको अपनी पसन्द-नापसन्द की नजर से नही देखता—बल्कि उसको समझना चाहता हूँ, और यदि उससे मुझे अपने आदर्श की ओर बढने मे सहायता मिलती है तो मै उसे ग्रहण कर लेता हूँ। यदि अपनी कसौटी पर कसने पर मै किसी बात या विचार को ठीक नही समझता तो मुझे उसको ग्रहण न करने में भी हिचकिचाहट नही होती, चाहे उस बात या विचार का सम्बन्ध कितने ही बडे व्यक्ति से क्यो न हो।

कुछ दिन पहले की बात है, मेरठ जिले के राजनैतिक कार्यकर्ता और विद्यार्थी मुझसे विविध राजनैतिक विषयो पर विचार-विमर्श करने आये। उस समय इस बात पर बडी गरम बहस छिड

गई कि गांधीजी सोशलिस्ट है या नही ? उन्होने सभवत यह
सोचकर कि शायद इस विषय मे मेरे विचार उनके कुछ काम आ सके, मुझसे भी इस विषय में अपना मत प्रकट करने का आग्रह किया। एक युवक का दावा था कि "गांधीजी अपने समय के सर्व-श्रेष्ठ समाजवादी है।" यद्यपि ऐसी बात सुनने का मेरा यह पहला ही अनुभव न था, मुझे उस समय लगा कि लोग समाजवाद के विषय में तरह-तरह की भ्रातिपूर्ण धारणायें बनाये हुए है। इसके प्रतिकूल दूसरे मत के समर्थको के विचार भी मुझे स्पष्ट न लगे। उन्होने जो राय प्रकट की, वह केवल नकारात्मक ही थी। तब मैंने उन लोगो से भी यह बात कही थी, और आज फिर उसको दोहरा देना चाहता हूँ। जहाँतक मेरा अपना सम्बन्ध है, मै किसी बात को केवल इसीलिए गलत नही समझता कि मै उससे सहमत नही हूँ। मै किसी बात को तभी अस्वीकार करता हूँ जब वह आलोचना की कसौटी पर नही ठहर पाती। लेकिन इस लेख में तो मै गांधीवाद पर अपना मत भी प्रकट करना नही चाहता—मेरा इस विषय में क्या मत है, यह प्राय सभी लोग जानते है। इस लेख में तो मै केवल इतना भर करना चाहता हूँ कि गांधीवाद और समाजवाद की व्याख्या करके आपके सामने रख दूँ, ताकि आप अपना परिणाम स्वय निकाल सके और यह देख सके कि क्या यह सभव है कि गांधीवाद और समाजवाद मे समन्वय हो सकता है या वे दोनो परस्परविरोधी सिद्धान्त है।

समाजवाद क्या है,इस विषय में बडा भ्रम फैला हुआ है। कोई समाजवाद को मानवता का सिद्धान्त समझता है, कोई उसे उपयोगिता का सिद्धान्त मानता है, तो कोई उसे समानता का सिद्धान्त माने

बैठा है। मेरे कहने का मतलब यह कभी नहीं है कि भारतवर्ष में ऐसे लोग है ही नही, जो समाजवाद के विषय में सही जानकारी रखते हो। पर उनसे मुझे कुछ कहना भी नही है। मै इतना अवश्य कह सकता हूँ कि जो लोग गांधीजी को समाजवादी समझते है, या यह प्रश्न पूछते है कि "क्या गांधीजी समाजवादी है?," वे समाजवाद से जानकारी नही रखते, क्योकि गांधीवाद और समाजवाद मे कोई सामजस्य नही है।

गांधीवाद

अपने विषय को सहल बनाने के लिए यह आवश्यक जान पडता है कि हम कुछ शब्दो और वाक्यो आदि की परिभाषा कर ले। मै स्वीकार किये लेता हूँ कि गांधीवाद की व्याख्या करना आसान नही है। क्योंकि जो लोग यह दावा करते हैं कि गांधीवाद ने ससार को सामाजिक और राजनैतिक समस्याओ को हल करने का एक नया ढग सिखाया है, वे भी अभीतक गांधीजी की सीख को किसी दर्शन-व्यवस्था के रूप में पेश नहीं कर सके है। उदाहरण के लिए, आचार्य कृपलानी ने गांधीवाद पर बहुत-कुछ लिखा है, पर उन्होंने भी यह मत प्रकट किया है कि गांधीवाद नाम की कोई चीज नही है। यह सिद्ध करने के लिए उन्होने एक अच्छी बडी पुस्तक तक लिख दी है—उसका नाम उन्होंने रक्खा है "गाधीजी का रास्ता।" मेरे लिए तो, "गाधीवाद" और "गांधीजी का रास्ता" इन दोनो में कोई विशेष अन्तर नहीं है। लेकिन चूंकि यदि मैंने गांधीवाद की कोई परिभाषा की भी तो उसपर आपत्ति उठ सकती है, इसलिए मै गांधीवाद की व्याख्या के विषय मे चुप रहूँगा। गांधीजी के नाम के साथ कुछ सिद्धान्तो का सम्बन्ध जोडा जाता

है, मै उन्हीकी समीक्षा करूँगा और यह दिखाने की कोशिश करूँगा कि समाजवाद से उनका कितना सम्बन्ध है।

समाजवाद क्या है ?

मै पहले समाजवाद की व्याख्या करना चाहूँगा। आप जानते है, समाजवाद के अनेक पहलू है। विशेषत. जिसे हम मार्क्सवादी समाजवाद (Marxian Socialism) कहते है, उसको तीन विभागो मे विभाजित किया जा सकता है—यद्यपि इन तीनो मे से किसी एक भाग को भी अन्य दो भागो से अलग नही किया जा सकता। ये तीन विभाग है (१) दार्शनिक, जिसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) भी कहते है, (२) आर्थिक, और (३) राजनैतिक। लेकिन इस समय मै समाजवाद के दार्शनिक और आर्थिक पहलुओ ही पर विचार करना चाहूँगा। वैसे तो अकेले दार्शनिक पहलू पर भी पूर्णत विचार करने के लिए इतना स्थान चाहिए, जितना कि मुझे भय है इस समय मुझे नही मिल सकता। फिर भी मेरी राय है कि समाजवाद का दार्शनिक पहलू ही ऐसा है, जिसका किसी प्रकार भी उस विचार-प्रणाली से समझौता नही हो सकता जिसे हम लोग गाँधीवाद के नाम से जानते है। गाँधीवाद का दार्शनिक पहलू क्या है ? गाँधीवाद दार्शनिक दृष्टिकोण से परम्परागत हिन्दू विचार, हिन्दू धर्म और हिन्दू दर्शन ही का दूसरा नाम है। गाँधीजी स्वय बडे धार्मिक और श्रद्धालु व्यक्ति है। उनका भगवान पर भरोसा है, और अनेको बार वह यह कह चुके है कि प्रार्थना ही से उनको वह प्रकाश मिलता है जिसके सहारे वह ससार की समस्याओ को समझ सकते है। दूसरे शब्दो मे मै यूं कहूँ कि गाँधीजी केवल धार्मिक व्यक्ति ही नही है, बल्कि

सच्चे मानी में धर्मप्राण महानुभाव हैं। क्योंकि वह अपने विश्वास के विषय में बड़े स्पष्ट हैं। इसीलिए हमको गांधीजी के जीवन-दर्शन की समाजवाद के दार्शनिक पहलू से तुलना करने में कठिनाई का अनुभव नहीं करना पड़ता। जो लोग अपनेको धार्मिक बतलाते हुए झेंपते हैं, और फिर भी भारतीय दर्शन-शास्त्र और समाज-शास्त्र के प्रतिपादक होने का दावा करते हैं, उनकी स्थिति को समझना बड़ा कठिन होता है। वे लोग अपनी धार्मिकता को तर्क का जामा पहनाने का यत्न किया करते हैं। मैं तो उनके विषय में यही कह सकता हूँ कि वे अपने विश्वास (एतक़ाद) के प्रति सच्चे नहीं हैं। उदाहरणार्थ, आपको ऐसे बहुतसे लोग मिलेंगे जो यह दावा करते हैं कि मार्क्स ने दुनिया को कोई नई बात नहीं बताई, क्योंकि उसकी कोई ऐसी नई बात नहीं है जो वेदान्त या उपनिषदों में न मिलतः हो। आध्यात्मिक कम्युनिज्म और धार्मिक समाजवाद की बातें करनेवाले लोगों की भी कमी नहीं हैं। मुझे तो ऐसे लोगों के सम्पर्क में आने का भी अवसर मिला है जिनका कहना है कि भौतिकवाद या वेदान्त, मार्क्स के सिद्धान्त या मनु के सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है। जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, ऐसे लोगों से पार पाना मुश्किल है। लेकिन गांधीजी के साथ ऐसी बात नहीं है। क्योंकि वह स्पष्ट ईमानदार हैं और अपने विश्वास के सम्बन्ध में किसीको भ्रम में रखना नहीं चाहते। इसीलिए हम सहज ही में गांधीवाद और समाजवाद के दार्शनिक पहलू की परस्पर तुलना करके इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि जिसे हम गांधीवाद के नाम से जानते हैं उसका और समाजवाद का समन्वय नहीं किया जा सकता। समाजवाद का दार्शनिक आधार भौतिकवाद है, जो

धर्म को, विधना द्वारा ब्रह्माण्ड और जीवन के रचे जाने के सिद्धान्त
को, स्वीकार नही करता। ऐसे समाजवादी के लिए जो अपने विषय से भलीभाँति परिचित है, गाँधीवाद और समाजवाद के विरोधाभास को जानने के लिए केवल इतना ही काफी है। वह बिना किसी कठिनाई के इस परिणाम पर पहुँच सकता है, कि गाँधीवाद के गुण-दोष कुछ भी क्यो न हो, उसका समाजवाद से कोई सम्बन्ध नही हो सकता। क्योकि समाजवाद का मूल सिद्धान्त है द्वन्दात्मक भौतिकवाद। मेरा इससे क्या अभिप्राय है, यह आप आगे चलकर अच्छी तरह समझ लेगे।

मै एकबार फिर दोहरा दूँ कि समाजवाद से मेरा अभिप्राय मार्क्सवादी सोशलिज्म से ही है। कार्ल मार्क्स से पहले भी समाजवादी विचार प्रचलित थे—किन्तु काल्पनिक या धार्मिक समाजवाद सम्बन्धी ही। उस समय के समाजवाद और गाँधीवाद मे कुछ सामजस्य पाया जा सकता है। उस समय के समाजवादी अपने समय की गरीबी और शोषण से असन्तुष्ट थे, और ऐसे समय की कल्पना करते थे, जब समान रूप से सुखी होगे। मार्क्स ने सबसे पहला जो काम किया वह यह था कि उसने उन "काल्पनिक" समाजवादियो की आलोचना की, क्योकि मार्क्स का यह दावा था कि समाजवाद की स्थापना होगी तो इसलिए नही कि कुछ दयालु लोग अधिकाश जनता को गरीबी मे पडे देखना नही चाहते, या मानव द्वारा मानव के शोषण को ठीक नही समझते। समाजवाद की स्थापना उसकी आवश्यकता करेगी। जिस प्रकार सामन्तवाद के बाद पूँजीवाद की स्थापना हुई उसी प्रकार पूँजीवाद का स्थान एक उच्चतर समाज-व्यवस्था—समाजवाद—लेगी। पूँजीवाद की

०० विवेचना करके, उसके आन्तरिक व्याघात को स्पष्ट करके, कार्ल मार्क्स ने यह बताया कि पूँजीवाद का नाश होगा और उसके स्थान में एक अधिक उपयुक्त और तर्कयुक्त समाज-व्यवस्था की स्थापना होगी। मार्क्स ने यह बात अवश्य कही थी कि समाजवाद की स्थापना आवश्यकता द्वारा की जायगी, अर्थात् समाजवाद तभी स्थापित हो सकेगा जब पूँजीवादी व्यवस्था में विकास की कोई गुंजायश न रहेगी। उन्होंने यह भी कहा कि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था और उसकी विशिष्ट राज्य-प्रणाली को उखाड़ फेंकना अनिवार्य है। इसी सम्बन्ध में मार्क्स ने अपने प्रख्यात दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और बताया कि "अबतक दर्शन ने ससार का स्पष्टीकरण किया है, अब उसे संसार को बदलना भी होगा।" इस सिद्धान्त का तर्कयुक्त अर्थ यह भी हो सकता है कि मानव का निर्माण उन परिस्थितियो द्वारा होता है, जिनमें वह रहता है—किन्तु क्योंकि वह स्वयं भी उन परिस्थितियो का एक अग है, वह उन परिस्थितियो को प्रभावित और परिवर्तित कर सकता है। आप देखेंगे कि अन्य किसी भी दर्शन-प्रणाली में मानव की रचनात्मक क्षमता को इस रूप से नही स्वीकार किया गया है। मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार मानव किसी मानवोपरि शक्ति के हाथ का कठपुतला नही है, और न किसी विराट कल का एक पुरजा ही है। बल्कि मानव उस ससार का, उस समाज का, जिसमें वह रहता है, सृष्टा है।

आप यह समझ गये होंगे कि इस दर्शन-प्रणाली और उस प्रणाली में, जो मानव को किसी सार्वभौम-शक्ति या विधाता द्वारा निर्मित पुतला मानती है, कितना बड़ा मौलिक भेद है। गाँधीजी

कभी-कभी विशुद्ध आस्तिक की तरह बोला करते हैं—भगवान् की शक्ति और उसकी प्रार्थना से उनको प्रेरणा मिलती है, इसकी बात यह बताया करते हैं। गीता से प्रेरणा लेते समय तो वह स्पष्ट रूप से यह कहा करते हैं कि वह ऐसे सार्वभौम नियम में, ऐसी शक्ति में, विश्वास करते हैं, जो प्रत्येक सासारिक वस्तु का स्रोत है; जिसपर मानव के अभिमत का कोई और प्रभाव नही। गांधीजी व्यक्तिगत देव में विश्वास रखते हैं, या समस्त ब्रह्माण्ड के एक नियन्ता में आस्था रखते हैं, इतना तो स्पष्ट है कि मानव-समाज और मानव-गतिविधि के विषय में जो मार्क्सवादी दृष्टिकोण है उससे उनका कोई सम्बन्ध नही होसकता।

साधारणतया समाजवाद के आर्थिक पहलू पर ही वाद-विवाद हुआ करता है। लेकिन उस क्षेत्र में भी हम यदि समाजवाद और गांधीवाद की तुलना करें तो हमको दोनो का विरोधाभास प्रकट होजायगा। मार्क्स के सिद्धान्तो के अनुसार आप या मैं अपनी इच्छा के अनुसार सामाजिक सम्बन्धो को निर्धारित नही कर सकते। आप आदर्श समाज-व्यवस्था की कल्पना कर सकते हैं, आप यह कल्पना कर सकते हैं कि समाज की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए, जिससे कोई किसीपर जुल्म न करता हो, जिसमें सब सुखी हो। कल्पना की स्वतत्रता आपको है, पर कल्पित व्यवस्था को स्थापित करने की, अपनी इच्छानुकूल समाज स्थापित करने की, स्वतन्त्रता आपको उपलब्ध नही है। आप केवल उसी व्यवस्था को स्थापित कर सकते हैं, जो चारो ओर के वातावरण में सम्भव है। गांधीजी के सामाजिक आदर्श और मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तो में यही सबसे बड़ा व्याघात आता है। मानव-समाज की विवेचना और

विश्लेषण करके मार्क्स इस परिणाम पर पहुँचे है कि मानव इतिहास में समय-समय पर एक समाज-व्यवस्था के (जिसका आधार कुछ विशिष्ट सामाजिक वर्गों का पारस्परिक सम्बन्ध था) स्थान में दूसरी व्यवस्था स्थापित हुई है, पहली उस समाज-व्यवस्था का, जिसमें मानव विकास की कोई समावना शेष न रह गई थी, स्थान किसी अन्य अधिक उन्नत समाज-व्यवस्था ने लिया है। इस नूतन व्यवस्था की स्थापना के लिए मानव इतिहास में समय-समय पर क्रान्तियाँ हुई है, अर्थात् पुरानी व्यवस्था को उलटकर नई व्यवस्था की स्थापना की गई है। लेकिन प्रत्येक नवीन सामाजिक व्यवस्था का अकुर पुरानी व्यवस्था के गर्भ में ही जम चुका था—वास्तव में विना इसके कोई नई व्यवस्था स्थापित नही हो सकी।

समाजवाद का मूल आर्थिक सिद्धान्त है—उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनो पर से व्यक्तिगत स्वामित्व उठा देना। समाजवाद के विषय में साधारणतया यह भ्रम फैला हुआ है कि समाजवाद एकता का हामी है। मुझसे अनेको वार यह पूछा गया है कि रूस मे असमानता क्यो है? तव रूस मे समाजवाद कहाँ है? इसलिए मैं इस पहलू पर कुछ कहना चाहता हूँ। समाजवाद का यह इरादा कभी नही है कि प्रत्येक व्यक्ति को आज के मजूर की स्थिति में ला रक्खा जाय। समाजवाद का प्रोग्राम तो उत्पादन, वितरण और विनिमय के साधनो पर से व्यक्तिगत स्वामित्व को मिटाना ही है। समाजवाद प्रत्येक वस्तु पर से व्यक्तिगत स्वामित्व उठा देना नही चाहता। सोशलिज्म से आप यह न समझिए कि वह किसी कालिज के सभी विद्यार्थियो को एक ही प्रकार के पजामे या पतलून पहनवाया चाहता है। सोशलिज्म यह भी नही चाहता

कि किसीके पास अपनी किताबें, अपना घर या अपनी मोटर तक
भी न रहे। समाजवाद तो केवल ऐसी व्यक्तिगत सम्पत्ति ही को मिटाना चाहता है, जिसके पास होने से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण कर सकता है, किसी दूसरे की कमाई पर स्वय सुख और ऐश्वर्यपूर्वक रह सकता है। मै फिर दोहरा रहा हूँ, समाजवाद का यह प्रोग्राम किसीकी सद्भावना या असद्भावना का परिणाम नहीं है। स्वय पूंजीवाद ने यह स्थिति पैदा करदी है। वास्तव में व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाजवाद नष्ट नही करता, उसका नाश तो स्वय पूंजीवाद ही कर देता है। वडे-वडे कल-कारखाने किसी व्यक्ति-विशेष की ऐसी सम्पत्ति नहीं हैं, जिसे वह जहाँ चाहे पल्ले बांधकर चलता बने। इनका स्वामी कोई व्यक्ति नही, समाज का एक भाग होता है—बहुत ही छोटा भाग यह मै मानता हूँ। मेरे कहने का मतलब यह है कि समाज के कुछ मुट्ठी-भर लोग वडे-वडे कल-कारखानो के मालिक है, पर अधिकाश जनता अकिंचन है। समाजवाद चाहता है कि सम्पत्ति का मालिक सारा समाज हो, न कि समाज का एक छोटा-सा भाग। समाजवाद तो एक ऐसे काम को जिसे स्वय पूँजीवाद ही सम्पादित कर चुका होता है, केवल स्वीकार भर करता है। साधारण भाषा में, समाजवाद कहता है, "व्यक्तिगत सम्पत्ति वस्तुत नष्ट हो चुकी है, हम कानूनी भ्रम को कायम रहने देना नही चाहते।" लेकिन बावजूद इस बात के कि समाज की भलाई की दृष्टि से व्यक्तिगत सम्पत्ति की कोई उपयोगिता शेष नही रह गई है, समाज का एक अग ऐसा है जिसके पास सम्पत्ति है और जो उस सम्पत्ति से व्यक्तिगत लाभ उठाता है। इसलिए यह वर्ग इस प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति को कायम

रखना चाहता है, जनता के बड़े भाग को कानूनी भ्रम में रखकर अपना उल्लू सीधा करते रहना चाहता है। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत एक शक्ति इसी वर्ग के हाथ में है; दमन के सब साधन उसके पास हैं। इसलिए समाज का बहुमत विरुद्ध होते हुए भी यह वर्ग अपनी मनमानी करता रहता है।

जब समाज के बहुमत के सगठित प्रयत्न और इच्छा के बावजूद सम्पत्तिशाली-वर्ग अपनी उस सम्पत्ति को, जिसके बलपर वह सम्पत्तिहीन बहुसंख्यक-वर्ग का शोषण करता है, छोड़ने को तैयार नहीं होता, तो दोनों वर्गों का सघर्ष सतह पर आजाता है, मैदान में खुल-खेलने लगता है। यह सघर्ष दबाया या छिपाया जा सकता है, नष्ट नही किया जा सकता; क्योंकि जबतक सम्पत्तिशाली और सम्पत्तिशून्य—अकिंचन—वर्ग रहेगे, यह संघर्ष भी रहेगा। *सम्पत्तिशाली-वर्ग की पीठ,* पर, *जैसा कि* ऊपर भी *कहा* जा चुका है, सरकार है, राज-व्यवस्था है। इसलिए, वह अपनी इच्छा से अपनी सुविधाओं को नहीं छोड़ सकता। तब उसको रास्ते से हटाना आवश्यक होजाता है। यह मार्क्स के समाजवाद का राजनैतिक पहलू है। मार्क्सवादी राजनीति का अर्थ है, शोषित और पीड़ित जनता का शक्ति हस्तगत करने के उद्देश से चलाया जाने वाला युद्ध।

गाँधीजी की सीख

गाँधीजी हमें क्या सिखाते है? गांधीजी इस बात में समाजवादियों से सहमत हैं कि जनसाधारण का शोषण नहीं होना चाहिए। वह जनसाधारण की ग़रीबी की भी निन्दा करते हैं। यहाँतक कि वह पूंजीवाद की निन्दा करने से भी नहीं चूकते।

लेकिन वह समाज को इस व्यथा से मुक्त होने का जो मार्ग २० बताते है, वह समाजवादियो के मार्ग से सर्वथा भिन्न है। वास्तव में समाजवादी दृष्टिकोण से तो उनका बताया हल कोई हल ही नही है। क्योकि वह आज की जिस विषमता को दूर करना चाहते है, उसके आदि-स्रोत को नही पहचानते। वर्ग-वैर का मूल कारण है, व्यक्तिगत सम्पत्ति, वर्ग-वैर का कारण है, सम्पत्तिशाली वर्गो का सम्पत्तिशून्य—अकिंचन—वर्ग को लूटना। गांधीजी का मत है कि "पारस्परिक वैर उत्पन्न करने के बजाय हमको पूँजीपति, जमीदार तथा ऐसे अन्य वर्गो को निर्धनो के प्रति दयालुता का बर्ताव करने के लिए राजी कर लेना चाहिए।" वह प्रत्येक मानव को समान रूप से स्वभावत भला मानते है। इसलिए वह मानव के सहज सौजन्य को जगाना चाहते है। अच्छा, हम यह मान लेते है कि एक जमीदार या एक पूँजीपति भी स्वभावत उतना ही भला है, जितना एक साधारण व्यक्ति। मानव स्वभावत भला होता है या नही, इस विवादग्रस्त विषय को मै यहाँ उठाना नही चाहता। मै इसमें विश्वास नही करता, क्योकि मेरा विश्वास है कि मानव अपनी जीवन-अवस्थाओ के अनुकूल बुरा या भला होता है। अक्षुण्ण मानव-स्वभाव का कोई प्रमाण है भी नही। लेकिन मैं माने लेता हूँ कि स्वभावत जमीदार या पूँजीपति भी भला है, और यदि मै उसके हृदय तक पहुँच सकूँ और उसको यह विश्वास करा सकूँ कि जो कुछ वह करता है वह ठीक नही है तो मै उसका हृदय-परिवर्त्तन करा सकता हूँ। यह मानकर कि ऐसा होना सभव है, मै यह कहना चाहता हूँ कि आप जिस क्षण भी जमीदार या पूँजीपति का हृदय-परिवर्त्तन करा सकेंगे, वह जमीदार या पूँजीपति

न रहेगा। पूंजीपति उसी समय तक पूंजीपति है, जबतक वह अपनी पूंजी के बल पर दूसरो का शोषण करता है, दूसरो के श्रम का अनुचित लाभ उठाता है। यदि ५० प्रतिशत लाभ करने के बजाय वह पांच प्रतिशत लाभ करे, तो भी उसके पूंजीपति होने में कोई फर्क नही आता। क्योकि वह शोषण तो तब भी करता है। जहाँ शोषण है, वहाँ समानता नहीं; और जहाँ समानता नही, वहाँ समान सौजन्य भी नही। जमींदार की भी यही बात है। गांधीजी दो परस्पर-विरोधी बातें एकसाथ करना चाहते है—एक ओर वह पूंजीपति का हृदय-परिवर्त्तन कराया चाहते है, तो दूसरी ओर पूंजीपति और मजूर के हितो में समन्वय। लेकिन जबतक पूंजीपति-हित है, तबतक पूंजीपति भी है, और इसलिए मजूर के हितो के साथ उसके हितो का समन्वय कैसे सम्भव है? वास्तव में आप जबतक इन परस्परविरोधी हितो का समन्वय कराने के लिए चिन्तित है, तबतक मै कहूँगा कि आप हृदय-परिवर्त्तन कराने में सफल नही हो सके—क्योकि इस चिन्ता में दोनो के पारस्परिक हितो का व्याघात सन्निहित है।

गांधीजी के सामाजिक आदर्श का यही तर्क-विभ्रम (Fallacy) है। वह ऐसे दो हितो में समन्वय कराना चाहते है, जिनका समन्वय हो नही सकता। यदि वह स्पष्ट रूप से यह कहदें, कि "हाँ, मै भी पूंजीवाद और जमीदारी के अस्तित्व को नही चाहता, लेकिन मेरा ढंग तुम्हारे ढग से भिन्न है," तो मै उनके दृष्टिकोण को समझ सकता हूँ—भले ही ढग के विषय में उनसे सहमत न होऊँ। लेकिन जब आप एक तरफ तो दो ऐसे हितो में समन्वय कराने का यत्न करते है, जिनमें समन्वय सभव नही, और दूसरी

और सम्पत्तिशाली और सम्पत्तिशून्य के बीच समानता होने का
दावा करते हैं, तो मैं कहता हूँ कि आप तर्क से काम नही ले रहे हैं। मैं आपकी ईमान्दारी या नेकनीयती पर सन्देह नही करता। लेकिन यह जरूर कहता हूँ कि आप या तो ऐसी बात कराने का स्वप्न देखते हैं जो असम्भव है, या आप जो-कुछ कहते हैं उसका अर्थ ही नही समझे।

पारिभाषिक दृष्टि से, गाँधीवाद और समाजवाद के आर्थिक कार्यक्रम के विरोधाभास को सक्षेप में यो रक्खा जा सकता है समाजवाद का कहना है कि जनसाधारण का आर्थिक कल्याण प्राचुर्य में हो सकता है, गाँधीवाद कहता है, सार्वजनिक कल्याण सादगी के वातावरण ही में हो सकता है। समाजवाद प्रचुरता का दर्शन है, गाँधीवाद दीनता का दर्शन है।

समाजवाद पर साधारणतया यह आरोप लगाया जाता है कि वह मानव के उच्चतर गुणो को नही छूता, जीवन के अन्न-वस्त्र के अतिरिक्त भी कुछ है। इसके उत्तर में मैं केवल यही कहूँगा कि ऐसी बाते करनेवाले लोग समाजवाद सम्बन्धी अपनी अज्ञानता ही का परिचय देते हैं। सासारिक कल्याण अर्थात् न्यूनतम परिश्रम से सब आवश्यकताओ के पूरा हो सकने की अवस्था ही से मानव को बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास का अवसर मिल सकता है। दूसरे शब्दो में सास्कृतिक सिद्धियो के लिए किसी निश्चित न्यूनतम अवकाश की आवश्यकता है। समाजवाद तो मानव के लिए वे अवस्थायें पैदा कर देना चाहता है, जिनमें उसको दिन-रात अपनी शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए न जुटा रहना पडे, जिनमें उसको उच्चतर बातो के लिए भी सुविधा

और समय मिल सके। मानव ने ऐसे यन्त्र बनाए है जिनकी सहायता से यह उद्देश्य पूरा किया जा सकता है।

मानव-जाति का इतिहास प्रकृति से मानव के निन्तर युद्ध करने और उसपर विजय पाने ही का इतिहास है। आदमी के प्रारम्भिक औज़ार बनाने के समय से लेकर बडी-बडी समय और श्रम बचानेवाली मशीनो के बनाने के समय तक का इतिहास मानव-विजय का ही इतिहास है। परिणाम इसका यह हुआ है कि, यदि सब कुछ ठीक हो तो, प्रतिदिन कुछ घण्टे काम करके ही प्रत्येक मनुष्य के जीवन की आवश्यकता पूरी हो सकती है। लेकिन मानव ने जो मशीन बनाई वह उसकी दास न रह सकी, क्योकि पूँजीवाद ने उससे मानव का शोषण और पतन करने का काम कराया है। यह कहना भूल है कि दोष मशीन का ही है और मशीन-सभ्यता का अन्त कर देना चाहिए। मशीन-सभ्यता जैसी कोई वस्तु नही है, जो-कुछ हो, वह तो मानव सभ्यता ही है। लेकिन गांधीवाद कथित "मशीन-सभ्यता" के अनाचारो से इतना बौखला गया है कि सिर-दर्द को दूर करने के यत्न में सिर तक कटाने को तैयार है। वह समझता है कि जबतक आदमी पुराने जमाने की सादगी को फिर से न अपनायेगा, तबतक इस दैत्य से उसका छुटकारा न हो सकेगा।

मैं यह कहना नही चाहता कि उस पुराने युग को पुन लाना सम्भव भी है या नही। यदि मैं यह मान भी लूँ कि मानव-प्रगति की घडी की सुई को कई सौ साल पीछे हटाया जा सकता है, तो भी तो यह परिणाम नही निकल सकता कि तब हम अधिक सुखी होगे। यदि हम पुराने जमाने के उत्पादन-साधनो को अपना ले,

तो न्यूनतम शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी आज से
कई गुना अधिक श्रम करना पडेगा। लेकिन गांधीजी का इस सम्बन्ध में जो तर्क है, उसे हम समझ सकते हैं। वह कहते है कि हमने व्यर्थ ही अपनी आवश्यकताओ को वढा लिया है। इसलिए हम ऐसा उपाय क्यो न करे, ऐसे युग में क्यो न चले जायँ, जहाँ न तो इतनी आवश्यकता हो और न इतना श्रम करना पडे। लेकिन कौन कह सकता है कि नैतिक या आध्यात्मिक दृष्टि से, आज से २०० साल पहले, हमारे पूर्वज अधिक उन्नत थे? मै इस बात का माननेवाला नही हूँ, कोई इतिहासज्ञ भी इस मत को ग्रहण नही कर सकता। लेकिन सादगी के सिद्धान्त मे एक और भी तर्क-विभ्रम (Fallacy) है। यदि हम यह मान भी ले कि सादा जीवन आदर्श-जीवन है, तो भी हम यह नही कह सकते कि एक धोती-कुरता पहननेवाला व्यक्ति कोट-पतलून पहननेवाले व्यक्ति से श्रेष्ठतर है। क्योकि लगोटी ही पहननेवाला व्यक्ति तो धोती-कुरता पहननेवाले से भी अधिक ऊँचा होगा। कहने का मतलब यह है कि आप यह नही बता सकते कि सादगी कहाँ शुरू होती है और कहाँ समाप्त। यदि सादगी ही को मानव की सास्कृतिक सिद्धियो को जाँचने की कसौटी बनाया जाय, तो सम्भवत सर्वश्रेष्ठ आदर्श व्यक्ति हमारे उन पूर्वजो में मिलेगा जो पेडो पर जीवन व्यतीत किया करते थे। मुझे तो लगता है गांधीजी को अपनी बातो पर विचार करने का अवसर ही नही मिला, इसलिए वह उनका तर्कयुक्त परिणाम नही समझ सके है। "सादा जीवन, उच्च विचार" की एक कहावत भी प्रचलित है। लेकिन इस समय ससार के प्रमुख वैज्ञानिक और दार्शनिक उच्च-विचार नही रखते, यह

भी कौन कह सकता है ? एक ऐसे मजूर की कल्पना कीजिए, जो जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दिन में ८-१० घण्टे काम करके घर लौटा है। क्या आप समझते हैं, उसको "उच्चतर" बातों पर विचार करने का अवसर है ? थके-माँदे शरीर को लेकर एक बार वह जहाँ चटाई पर लेटा कि सुबह होगई—सुबह उसको फिर उसी संकटमय काम के लिए उठा लेगी। मजूर खेत में हो या कल-कारखानों मे, चरखा चलाता हो या मशीन से काम करता हो, सभी जगह उसकी यही दशा है। लेकिन समाजवाद ने रास्ता दिखाया है। प्रत्येक मानव-प्राणी को नैतिक और आध्यात्मिक विकास का अवसर मिल सकता है। लेकिन तभी जब उसको अपना पेट भरने और तन ढकने भर के लिए जानवर की तरह ८-८ और १०-१० घण्टे तक अपनी शक्ति व्यय न करनी पड़े। समाजवाद उन अवस्थाओं को पैदा करना चाहता है, जिनसे ऐसा होना सभव है। समाजवाद गांधीवाद की तरह यह नही कहता कि मानव का सास्कृतिक विकास सादगी के वातावरण मे हो सकता है, क्योंकि सादगी दीनता का दूसरा परिष्कृत नाम भर ही है। समाजवाद का दावा है कि मानव की सास्कृतिक उन्नति भौतिक पूर्णता में ही सम्भव है।

गांधीवाद और समाजवाद के राजनैतिक पहलू पर विचार प्रकट करना सहल काम नहीं है। समाजवादी दृष्टिकोण से राजनीति में दवाव (Pressure) अनिवार्य है। क्योकि कैसी भी राज-व्यवस्था क्यो न हो, वह किसी न-किसी वर्ग का दमन करती ही है। आज की समाज-व्यवस्था में, सरकार समाज के कुछ लोगो के हाथ में दमन का एक साधन मात्र है, अधिकाश जनता का उसके

द्वारा दमन किया जाता है। समाज के बडे अग को मुट्ठीभर
लोगो के चगुल से मुक्त करने के लिए, राजसत्ता पर जनसाधारण
द्वारा अधिकार किया जाना नितान्त आवश्यक है। दूसरे शब्दो में,
मै कहूँगा, जनसाधारण को शासक-वर्ग से शक्ति छीननी है। लेकिन
यहाँ पहुँचते ही हमारे सामने गाँधीजी की सीख पर विचार करना
आवश्यक होजाता है। गाँधीजी ने हमको जो शिक्षा दी है, उसी-
को उनकी सबसे बडी देन समझा जाता है। मेरा मतलब अहिंसा
के सिद्धान्त से है। उनकी धारणा है कि आज की समाज-व्यवस्था
में किसी प्रकार की उथल पुथल किये बिना, आज के सामाजिक
बधनो को बिगाडे बिना भी अहिंसा का वातावरण पैदा किया जा
सकता है। यदि ऐसा हो सके, तो कम-से-कम मै, व्यक्तिगतरूप से,
इसका स्वागत करूँगा। मै भी चाहता हूँ कि समाज हिंसा से मुक्त
होजाय, समाज में पशु-बल का नियम न रहकर नैतिक नियम का
बोलबाला हो। लेकिन आदर्श के मोह में पडकर ही क्रूर वास्त-
विकता से मुँह नही मोड लेना चाहिए। वास्तविकता यह है कि
आज की समाज-व्यवस्था का आधार हिंसा है। लेकिन गाँधीजी
के अहिंसा सिद्धान्त का अर्थ यह है कि आज की उस समाज-
व्यवस्था को भग न किया जाय, क्योकि उसको भग करने का प्रयत्न
हिंसा है। लेकिन आज मै हिंसा-अहिंसा के विषय को भी नही
उठाना चाहता और पाठको से गाँधीजी के कुछ वक्तव्यो और
उक्तियो को पढने ही का अनुरोध करूँगा। गाँधीजी अनेको बार यह
कह चुके है कि आज मजूर और मालिक के बीच जो सम्बन्ध है,
वह हिंसात्मक है। मालिक साधन-सम्पन्न है, वह मजूर को, जिसके
पास अपना जीवन चलाने के लिए अपनी मिहनत के सिवाय और

कुछ नहीं, मनचाही मजूरी स्वीकार करने को विवश कर सकता है। क्योंकि यदि मजूर उसकी बताई मजूरी स्वीकार न करे तो भूखो मरने के सिवाय उसके पास चारा ही क्या रहता है? भूखो मार डालने की धमकी देकर जनता के एक बड़े भाग को अपनी मनचाही मजूरी देकर काम करने को बाध्य करना, यदि हिंसा नहीं तो क्या है? यदि मजूर इस शोषण को, इस जुल्म को रोकने के लिए हड़ताल करते हैं, तो शोर मच जाता है कि मजूर हिंसा पर तुले हुए है। गांधीजी ने मजूरो के इस प्रकार के कार्य को हिंसा कहा है, और उसकी निन्दा की है। इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि आज की अवस्थाओ में अहिंसा का प्रचार करना हिंसा पर, उस हिंसा पर जो विराट जनसमूह को पीस रही है, परदा डालना है। अहिंसा सुन्दर और वाञ्छनीय आदर्श है। गांधीजी ने इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, हम उनके आभारी हैं। पर उन्होंने अहिंसा को सिद्ध करने का मार्ग नहीं बताया। गांधीजी आदर्शवादी हैं—ऐसे आदर्शवादी, जो दुर्भाग्यवश वस्तु-स्थिति को भूलते है। समाजवादी भी आदर्शवादी है, पर वे वस्तु-स्थिति से मुँह मोड़कर हवा में उड़ना नहीं चाहते। हम अहिंसा स्थापित कर सकेंगे; पर पहले उन अवस्थाओ को बदलना होगा, जिनमें हिंसा होती है। हम ऐसा समाज स्थापित किया चाहते है जिसमें, आदमी आदमी का, समाज का अल्पसंख्यक वर्ग बहु-संख्यक वर्ग का, शोषण न कर सके, जिसमें हिंसा न तो संभव ही होगी और न आवश्यक। उस आदर्श को कैसे प्राप्त करें? गांधी-वाद और समाजवाद के साधनो में भेद है।

मुझे विश्वास है, पाठक यह समझ गये होंगे कि गांधीवाद

और समाजवाद मे सामजस्य नही है। आदर्श सामजस्य भी तनिक २१३ ध्यानपूर्वक विचार करने पर नही रहता। गाँधीजी कुछ भी हो, समाजवादी नही हैं। मुझे तो यकीन है, यदि उनको यह पता हो जाय कि समाजवाद के प्रवर्तको के सिद्धान्तो को स्वीकार करके ही समाजवादी हुआ जा सकता है, तो स्वय गाँधीजी भी समाज-वादी होने से इन्कार कर देंगे।

सस्ता साहित्य मण्डल

'सर्वोदय साहित्य माला' की पुस्तकें

१—दिव्य-जीवन	।≈)	२३—(अप्राप्य)	
२—जीवन-साहित्य	१।)	२४—(अप्राप्य)	
३—तामिल वेद	॥)	२५—स्त्री और पुरुष	॥)
४—व्यसन और व्यभिचार	॥=)	२६—घरों की सफ़ाई	।=)
५—(अप्राप्य)		२७—क्या करें ?	१॥)
६—भारत के स्त्री-रत्न (तीन भाग)	३)	२८—(अप्राप्य)	
७—अनोखा (विक्टर ह्यूगो)	१।=)	२९—आत्मोपदेश	।)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान	॥।=)	३०—(अप्राप्य)	
९—यूरोप का इतिहास	२)	३१—जब अंग्रेज नहीं आये थे—	।)
१०—समाज-विज्ञान	१॥)	३२—(अप्राप्य)	
११—खद्दर का सम्पत्तिशास्त्र	॥≈)	३३—श्रीरामचरित्र	१।)
१२—गोरों का प्रभुत्व	॥≈)	३४—आश्रम-हरिणी	।)
१३—(अप्राप्य)		३५—हिन्दी-मराठी-कोष	२)
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह	१।)	३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त	॥)
१५—(अप्राप्य)		३७—महान् मातृत्व की ओर	॥≈)
१६—अनीति की राह पर	॥=)	३८—शिवाजी की योग्यता	।=)
१७—सीता की अग्नि-परीक्षा	।-)	३९—तरंगित हृदय	॥)
१८—कन्याशिक्षा	।)	४०—नरमेध	१॥)
१९—कर्मयोग	।≈)	४१—दुखी दुनिया	।=)
२०—[illegible]	≈)	४२—जिन्दा लाश	॥)
२१—[illegible]व्यावहारिक सभ्यता	॥।	४३—आत्म-कथा (गांधीजी)	१॥)
२२—अंधेरे में उजाला	॥।	४४—(अप्राप्य)	

४५—जीवन-विकास १।), १॥)
४६—(अप्राप्य)
४७—फांसी ! ।≤)
४८—अनासक्तियोग—गीताबोध
(दे० नवजीवनमाला)
४९—(अप्राप्य)
५०—मराठों का उत्थान-पतन २॥)
५१—भाई के पत्र १)
५२—स्वगत ।≤)
५३—(अप्राप्य)
५४—स्त्री-समस्या १॥)
५५—विदेशी कपड़े का
मुकाबिला ॥≤)
५६—चित्रपट ।≤)
५७—(अप्राप्य)
५८—इंगलैण्ड में महात्माजी ॥)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवी सम्पद् ।≤)
६१—जीवन-सूत्र ॥)
६२—हमारा कलंक ॥≤)
६३—बुदबुद ॥)
६४—संघर्ष या सहयोग ? १॥)
६५—गांधी-विचार-दोहन ॥)
६६—(अप्राप्य)
६७—हमारे राष्ट्र-निर्माता २॥)
६८—स्वतंत्रता की ओर— १॥)
६९—आगे बढ़ो ! ॥)
७०—बुद्ध-वाणी ॥≤)
७१—कांग्रेस का इतिहास २॥)
७२—हमारे राष्ट्रपति १)
७३—मेरी कहानी (ज० नेहरू) २॥)
७४—विश्व-इतिहास की झलक
(जवाहरलाल नेहरू) ८)
७५—(दे० नवजीवन माला)
७६—नया शासन विधान-१ ॥)
७७—(१) गांवों की कहानी ॥)
७८—(२-९) महाभारत के पात्र १)
७९—सुधार और संगठन १)
८०—(३) संतवाणी ॥)
८१—विनाश या इलाज ॥)
८२—(४) अंग्रेजी राज्य में
हमारी आर्थिक दशा ॥)
८३—(५) लोक-जीवन ॥)
८४—गीता मंथन १॥)
८५—(६) राजनीति प्रवेशिका ॥)
८६—(७) [illegible] ॥)
८७—[illegible] ॥)

आगे होनेवाले प्रकाशन

१. जीवन शोधन—किशोरलाल मशरूवाला
२. समाजवाद : पूँजीवाद—
३. फेसिस्टवाद
४. नया शासन विधान—(फेडरेशन)
५. स्वदेशी और ग्रामोद्योग—(गांधीजी)
६. हमारी आज़ादी की लड़ाई (२ भाग)—(हरिभाऊ उपाध्याय)
७. सरल विज्ञान—१ (चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय)
८. सुगम चिकित्सा—(चतुरसेन वैद्य)
९. गांधी साहित्य माला—(इसमें गांधीजी के चुने हुए लेखो का संग्रह होगा—इस माला में २० पुस्तकें निकलेंगी। प्रत्येक का दाम ॥) होगा। पृष्ठ स० २००–२५०)
१०. टाल्स्टाय ग्रन्थावलि—(टाल्स्टाय के चुने हुए निबन्धो, लेखो और कहानियो का संग्रह। यह १५ भागों में होगा। प्रत्येक का मूल्य ॥), पृष्ठ संख्या २००–२५०)
११. बाल साहित्य माला—(बालोपयोगी पुस्तकें)
१२. लोक साहित्य माला—(इसमें भिन्न-भिन्न विषयो पर २०० पुस्तकें निकलेंगी। मूल्य प्रत्येक का ॥) होगा और पृष्ठ संख्या २००–२५० होगी। इसकी ५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है।)
१३ नवराष्ट्र माला—इसमें संसार के प्रत्येक स्वतन्त्र राष्ट्र-निर्माताओं और राष्ट्रो का परिचय है। इस माला की पुस्तके २००-२५० पृष्ठो की और सचित्र होगी। मूल्य ॥।)
१४. नवजीवनमाला—छोटी-छोटी नवजीवनदायी पुस्तके।